पूर्व-भारतेन्दु नाटक साहित्य

लेखक

डा० सोमनाथ गुप्त, एम. ए., पी-एच. डी., साहित्यरत्न

(अध्यक्ष हिन्दी संस्कृत विभाग, महाराजकुमार कालेज, जोधपुर)

प्रकाशक

हिन्दी-भवन

जालंधर और इलाहाबाद

१९५८]

[मूल्य ५)

समर्पण

पुतली
को

सोम

हिन्दी के प्रथम मौलिक नाटककार—

श्री महाराज विश्वनाथसिंहजू (रीवाँ)

[श्री महावीर प्रसाद अग्रवाल के सौजन्य से प्राप्त]

भूमिका

मैंने 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास'[1] सन् १९४७ में अपनी डाक्टर की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया था जिसे आगरा विश्वविद्यालय ने स्वीकार कर मुझे पी-एच. डी. की उपाधि उसी वर्ष प्रदान की थी। यद्यपि इस विषय पर जो साहित्य उस समय तक उपलब्ध था उसका उल्लेख उक्त प्रबन्ध में कर दिया गया था परन्तु मेरे प्रबन्ध के पश्चात् इस विषय पर दो पुस्तकें विशेष रूप से निकलीं। वे थीं श्री नलिन जी कृत 'हिन्दी नाटककार' तथा डा० दशरथ ओझा का "हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास"। नलिन जी ने कोई नई बात सामने नहीं रखी। केवल पुरानी बातों को अपने शब्दों में लिख कर पुस्तक प्रस्तुत कर दी और जहाँ उन्होंने दूसरों से लाभ उठाया उसका भी उल्लेख नहीं किया। मेरे एक प्रसंग पर उन्होने बड़े उग्र रूप से प्रहार किया है। और उसी प्रसंग को कुछ अन्य विद्वानों ने भी यथासमय अपने अपने उद्गारों का विषय बनाया है। यह प्रसंग मेरे प्रबन्ध के पृ० १९४ (प्रथम संस्करण) पर अंकित है और अशोक तथा अजातशत्रु से सम्बन्धित है। मैंने वैसा लिख कर कदापि यह नहीं दिखाया कि दोनो एक ही हैं अथवा मैंने यह नई खोज की है। आगे समझने वाले की बुद्धि पर है। भ्रम का परिशोध नवीनतम संस्करण में कर दिया गया है।

डा० ओझा भी मेरे एक तथ्य से असहमत हैं। मैं पूर्व-भारतेन्दु नाटकों को प्रधानतया नाटक न मान कर नाटकीय-कविता अथवा काव्य-प्रबन्ध मानता हूँ। अपने पक्ष में मैंने तर्क दिये हैं। डाक्टर साहब को वे स्वीकार न हो, उनकी इच्छा है। आज उसी पृष्ठभूमि को सामने रखते हुए मैं प्रस्तुत पुस्तक पाठकों के सामने रख रहा हूँ। इसमें संगृहीत नाटक भाग पढ़ कर वे स्वयं किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे। इन अंशों में से 'करुणाभरण' और 'सभासार' के लिए मैं उदयपुर के

---

१. हिन्दी भवन, जालन्धर और इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित।

सरस्वति पुस्तकालय के स्वामी का विशेष कृतज्ञ हूँ जिनकी कृपा से दोनों नाटकों की प्रतिलिपि प्रियवर डा० मोतीलाल मेनारिया ने मुझे भेजी थी। प्रबोध-चन्द्रोदय के लिए मैं जोधपुर के पुस्तक-प्रकाश के स्वामी श्रीमान् जोधपुर नरेश का आभारी हूँ जिनकी आज्ञा से पुस्तक-प्रकाश की देख रेख करने वाले मित्रवर पं० नित्यानंद जी ने इसकी प्रतिलिपि मुझे करा दी।

ये तीनों नाटक-अंश प्रथम बार ही प्रकाश में आ रहे हैं। अब तक इनके विषय मे जिन्होंने लिखा वह केवल दूसरों की सम्पत्ति थी। शुक्ल जी के विवरण से अवश्य प्रतीत होता है कि उन्होंने प्रबोध-चन्द्रोदय की कोई पाण्डुलिपि देखी थी। शेष नाटक प्राचीन समय में मुद्रित हो चुके हैं। आनन्द रघुनन्दन की एक मुद्रित प्रति नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से निकली थी और दूसरी बनारस से। मैंने इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर मे देखी थी।

लक्ष्मणसिंह जी कृत शकुन्तला का अनुवाद इतना प्रसिद्ध और प्राप्त है कि उसको इसमे स्थान देना मैंने पिष्टपेषण मात्र समझा। जिज्ञासु पाठक उसे अन्य स्थान से पढ़ सकते हैं।

हिन्दी के पूर्व लोक-नाटको के विषय में इधर विद्वान दत्तचित्त हैं। रासक, रास, रासो आदि पर 'हिन्दी अनुशीलन' में तथा कुछ अन्य पत्र पत्रिकाओं मे लेख निकल चुके हैं और निकलते रहते हैं। जिस दिन संस्कृत और हिन्दी के बीच की यह कड़ी स्पष्ट हो जायगी वह दिन हिन्दी के नाटक-साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखा जायगा।

जिन नाटको अथवा नाटक-काव्यो के अंश प्रस्तुत पुस्तक में उद्धृत किये गए है उनके लेखकों तथा प्रकाशकों के प्रति कृतज्ञता प्रगट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। मुझे विश्वास है पाठक इस पुस्तक को उपयोगी पाएँगे।

जोधपुर
पौष कृष्ण १३, संवत् २०१४

सोमनाथ गुप्त

सूचिका—

पूर्व-भारतेन्दु नाटक साहित्य

•

अध्याय १

नाटक क्या है ?

संस्कृत साहित्य के इतिहास से यह तो प्रतीत होता है कि नाटक-सिद्धान्तों पर पर्याप्त चर्चा हुई परन्तु दुर्भाग्यवश जो कुछ शास्त्रीय ग्रन्थ इस विषय पर उपलब्ध हैं उनमें अभी तक भी प्रधानता भरत के 'नाट्य-शास्त्र' और धनंजय के 'दश-रूपक' की ही है। विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण' नाटक के सिद्धान्तों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है परन्तु रूप गोस्वामी की 'नाट्य-चन्द्रिका', सुन्दर मिश्र का 'नाट्य-प्रदीप' एवं 'अग्नि-पुराण' जैसी पुस्तकें नाट्य-शास्त्र विषयक उत्कृष्टता प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकीं।

हिन्दी में तो इस विषय का नितान्त अभाव ही कहा जा सकता है। भारतेन्दु ने 'नाटक' में कुछ प्रयत्न किया था परन्तु विषय की गंभीरता और उसके विस्तार को ध्यान में रखते हुए वह नगण्य जैसा ही है! अद्यावधि जो कुछ इस सम्बन्ध में लिखा गया है उसका मूल आधार संस्कृत रचनायें अथवा अंगरेजी ग्रन्थ मात्र हैं। मौलिक चिंतन नहीं के बराबर है। ऐसी अवस्था में 'नाटक' क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देना सुगम नहीं है!

भरत ने नाट्य-शास्त्र में नाट्य की उत्पत्ति के विषय में एक कथा का आधार लेते हुए यह बताया है कि नाट्य वेद की उत्पत्ति के लिए ब्रह्मा ने ऋक् से पाठ्य, साम से गीत, यजुष् से अभिनय तथा अथर्व से रस अंगों को ग्रहण किया। अतएव स्पष्ट है कि भरत के अनुसार नाटक, पाठ्य, गीत, अभिनय और रस की अभिव्यंजना है जिसका

लक्ष्य सामाजिकों के मनोरंजन के साथ साथ "क्रीडनीयकमिच्छामो"[१] आनन्द दशा को प्राप्त कराना है। भरत ने यह भी उल्लेख किया है कि नाटक 'भावानुकीर्तनम्'[२] भाव की अनुकृति है। उसका उद्देश्य धर्म अर्थ और काम का यथोचित प्रभाव डालना, क्लीवों को उत्साह प्रदान करना, अज्ञानियों को बोधवान बनाना, दुखियों को स्थिरता प्रदान करना, लोकवृत्तों का अनुकरण करना आदि है।[३] अभिनय के लिए नाट्यगृह की आवश्यकता और स्त्रियों के उसमें भाग लेने की ओर भी भरत ने संकेत किया है। इस प्रकार वर्णन करने के उपरान्त भरतमुनि ने नाटक के तत्वों की सूक्ष्म व्याख्या की है। परन्तु नाटक विषयक सब से अधिक स्पष्टीकरण धनंजय का है। दशरूपक-कार के अनुसार

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यं, रूपं दृश्यतयोच्यते।"

[अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं, यही नाट्य रूप भी कहलाता है।]

"रूपकं तत्समारोपात्, दशधैव रसाश्रयम्॥" १. ७.

[वही नाट्य रूप रूपक कहलाता है, रस के आश्रय पर इसके दस भेद होते है।]

'अवस्थानुकरण' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।

[जहाँ काव्य में निबद्ध (वर्णित) धीरोदात्त आदि नायकों (तथा अन्य नायिकाओं) का चतुर विधि (आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक) अभिनय द्वारा अवस्था का अनुकरण किया जाता है, वह नाट्य है। अनुकरण इस प्रकार होना चाहिये कि नटों में मूल पात्रों की 'तादात्म्यापत्ति' हो जाय।]

'रूपक' नाम की सार्थकता पर भी व्याख्या है—

"नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वाद्रूपकं मुखचन्द्रादिवत् इत्ये

---

१. नाट्यशास्त्र १. ११.

२. नाट्यशास्त्र, १. १०४

३. वही १. १०४—११२.; १. ११७

कस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य 'इन्द्रः, पुरन्दरः, शक्रः' इतिवत्प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शितः।"

[जैसे रूपक अलंकार में 'मुख-चन्द्र' में उपमान का उपमेय में आरोपण है, वैसे ही नट में रामादि पात्रों की अवस्था का आरोपण होता है अतएव वह रूपक है; जिस प्रकार इन्द्र, पुरन्दर और शक्र तीनों एक ही के नाम हैं, उसी प्रकार नाट्य, रूप और रूपक तीनों शब्दों का प्रयोग होता है।]

अब प्रश्न यह है कि *अवस्था* और उसके *अनुकरण* का अभिप्राय क्या है ?

अनुकरण तो किसी भी वस्तु का हो सकता है। किसी पात्र के कार्य-कलाप अथवा मौनता का भी अनुकरण किया जा सकता है और उसकी विचार एवं भाव-दशा का भी। कार्य के अनुकरण का अभिप्राय अवस्था के अनुकरण की अपेक्षा कहीं संकुचित है। कार्य का क्षेत्र सीमित है क्योंकि वह केवल घटनाओं को सामने रखता है परन्तु अवस्था की अभिव्यंजना में पात्र की समस्त परिस्थितियाँ—व्यक्तिगत तथा अन्य पात्रों के संसर्ग से उत्पन्न—उनकी मन एवं हृदय पर होने वाली प्रतिक्रियायें तथा इनके परिणामस्वरूप भाव-दशा आदि सभी इसमें सम्मिलित हैं। वास्तव में भाव-दशा की अनुकृति का प्रदर्शन ही दर्शक-मंडली में रस के साधारणीकरण की समस्या को सत्य प्रदर्शित कर देता है। रस की निष्पत्ति जितनी अवस्था के कारण सम्पन्न होती है वैसी केवल किसी कार्य या घटना के परिणाम स्वरूप नहीं।

पश्चिम और पूर्व में अनुकृति-सिद्धान्त के विषय पर यही मौलिक भेद है। अरस्तू ने 'अनुकृति-सिद्धान्त' का प्रतिपादन क्रिया के क्षेत्र तक ही सीमित रखा और यही अर्थ आगे भी मान्य हुआ। इसी के आधार पर सिसरो (Cicero) ने कहा था—

"Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth."

[नाटक जीवन की प्रतिलिपि है, वह रीतियों और रिवाजों का दर्पण है, सत्य का परावर्तन है।]

परन्तु सिसरो अपने मन्तव्य की पुष्टि में यह भुला बैठे कि यदि नाटक संसार में होने वाली सभी घटनाओं का एक सत्य चित्र है तो हमारे दृष्टिकोण से उसके द्वारा उत्पन्न आनन्द का वास्तविकता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। परन्तु यह सम्भव ही कैसे हो सकता है? न तो रंगमंच पर वास्तविक पात्र ही आ सकते है और न उन्हीं की वाणी द्वारा हमें उनकी भावदशा का ज्ञान हो सकता है। अतएव जिसे वास्तविकता या यथार्थता कहते हैं वह एक भ्रम मात्र है, माया जाल है।

यथार्थ की अनुकृति को स्पष्ट करते हुए ह्यूगो (Hugo) ने जो कहा था वह इस सिद्धान्त पर अधिक प्रकाश डालता है। उनका कथन है कि—

"नाटक वह दर्पण है जिसमें प्रकृति परावर्तित होती है। यदि वह दर्पण साधारण दर्पण है और उसकी सतह समतल तथा पालिश युक्त है तो वह वस्तुओं का क्षीण प्रतिबिम्ब ही अंकित कर सकेगा जिसमें किसी प्रकार का आनन्द नहीं होगा—वह प्रतिबिम्ब सत्य अवश्य होगा परन्तु रंग हीन रहेगा क्योकि यह भली भॉति विदित है कि साधारण परावर्तन मे रंग और प्रकाश दोनों विलीन हो जाते हैं। अतएव नाटक को सगम-कारी (Focussing) दर्पण होना चाहिए जिसके द्वारा रंगीन रश्मियॉ, बलहीन होने की अपेक्षा, एकत्रित और संघटित हो कर, शिखा को प्रकाश में और प्रकाश को ज्वाला में परिवर्तित कर सकें। तभी नाटक को कला कहलाने की सार्थकता हो सकती है।"[१]

---

1. "The Drama is a mirror in which nature is reflected. But if this mirror be an ordinary mirror, a flat and polished surface, it will provide but a poor image of the objects, without relief—faithful but colourless; it is well known that colour & light are lost in a simple reflection. The Drama, therefore must be a focussing mirror, which instead of making weaker, collects and condenses the coloured rays, which will make of a gleam a light, of light a flame. Then only is the Drama worthy of being counted an art."

—Hugo, Preface to Cromwel. (1828) P. XI.

सारसे (Sarcey) ने इस भाव को और अधिक स्पष्ट बनाते हुए कहा है—

"यदि सत्य को रंगमंच पर उपस्थित किया जायगा तो दर्शकों को वह बड़ा भयंकर प्रतीत होगा।......नाट्य कला वह साधन है जिसके द्वारा, रंगमंच पर, हम जीवन को अभिव्यक्त करते हैं और एकत्रित दर्शकों के लिए सत्य की छाया प्रदर्शित करते हैं।"[१]

अतएव रंगमंच पर जो कुछ उपस्थित किया जाता है वह वह नहीं होता जो वास्तव मे हुआ है वरन वह होता है जो होना चाहिए था। जिस प्रकार एक चित्रकार अपने अपूर्ण आदर्श को काट छाँट कर उसे अपनी कल्पना के अनुसार बना लेता है उसी प्रकार नाट्यकला के नियमों मे जो कुछ नहीं भी समा सकता उसका समावेश नाटककार अपनी रचना मे कर लेता है और जीवन को क्रियात्मक अनुरूप दे देता है। प्रकृति की यथाथता एक ओर रह जाती है और रंगमंच पर काम सॅभालने वाला वहाँ के प्रकाश, शृंगार-पदार्थ, दृश्य प्रभाव आदि में ही व्यस्त हो जाता है। क्योंकि यही सब कुछ उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम होता है।

कलाकार जीवन की घटनाओं में से केवल उन्हीं को चुनता है जो उसके लक्ष्य की पूर्ति मे सहायक होती हैं। इन घटनाओं के यथार्थ और तर्क जन्य विकास को प्रस्तुत करने मे ही उसकी कला-कुशलता है। नाटककार का प्रधान धर्म है जीवन को उस स्तर तक उठा कर दिखाना जिस पर पहुँच कर वह हमारे लिए कौतूहल और संवेदन का अंश बन जाय और प्रत्येक दृश्य हमारी आत्मा को आनन्द एवं उत्सुकता से विभोर कर दे। नाटक में बाह्य और अन्तर्द्वन्द्व के ऐसे रहस्य होने चाहिए कि आत्मा अपने ऊपर पड़ने वाले सभी बाह्य प्रभावों से परिचित हो और समस्त अवरोधों को रौंदती हुई सफलता की ओर अग्रसर हो। ये अवरोध जीवन में अनेकों रूप—नियति, सामाजिक, व्यक्तिगत, महत्त्वाकांक्षागत अथवा ईर्ष्याजन्य आदि आदि; धारण करते हैं। भारतीय नाटक में प्रतिनायक की आवश्यकता का यही रहस्य है।

---

१. A Theory of the Theatre. P. 31.

प्रतिनायक नायक के सभी अवरोधों का प्रतीक है और नाटककार यह भली भाँति जानता है कि विकास और सफलता बिना विरोध के संभव नहीं है।

संक्षेप में नाटक दर्शकों के सामने प्रस्तुत की गई एक जीवन कथा है। वह मानवी प्रकृति की एक सत्य और सजीव छवि है जिसमें सक्रियता है, भावोद्वेलन है और भाग्य द्वारा प्रत्युत्पन्न अवरोधों का गुंफन है।

नाटकों की उत्पत्ति

१. भारतेतर देशों में

संसार के प्रायः सभी विद्वान एक स्वर से कहते हैं कि नाटकों का उदय धार्मिक उत्सवों अथवा अन्य धार्मिक कर्मकाण्ड के अवसरों पर ही हुआ और कालान्तर में नाटक का कलेवर धार्मिक से समस्या रूप मे परिवर्तित हो गया। अतएव नाटक के आदि रंगालय, देवालय अथवा धार्मिक कृत्यों के स्थान ही थे और उसके प्रथम अभिनेता भक्त लोग।

एशाइलस (Aeschylus लगभग ४९० ईसापूर्व) के नाटकों के विषय मे प्रो० *निकल* (Allardyce Nicoll) का कहना है कि

"एशाइलस और उसके उत्तराधिकारियों के दुखान्त नाटकों का उदय प्राचीन छन्द विशेष से हुआ जो सूर्य-देवता की पूजा के उपलक्ष में समवेत-संगीत के रूप मे गाया जाता था।"[1]

सुखान्त नाटकों के विषय में भी प्रो० *निकल* का कहना है कि—

"सुखान्त नाटको का सर्वप्रथम प्रवेश ईसा से ४८६ वर्ष पूर्व सूर्य देवता की उपासना से सम्बन्धित उत्सवों पर हुआ परन्तु इससे भी अनेको वर्ष पूर्व सुखान्त रूप का विकास लोकप्रिय मनोरंजनों एवं कर्मकाण्डो के विभिन्न रूपों से विकसित हो रहा था।"

आरंभ में यह रूप विचित्र मिश्रण था और पर्याप्त समय तक,

---

१. "The Tragic Dramas of Aeschlus and his successors sprang from the ancient dithyramb, a choral song chanted in honour of Dionysus."

—World Drama, P. 26

निश्चित रूप की अनुपस्थिति में, इसमें अनेकों प्रकार के तत्त्व मिले हुए थे जिनसे उसका निर्माण और विकास हुआ था।"[1]

इटली में नाटक के उद्भव और विकास की चर्चा करते हुए श्री निकल इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि—

"यूनान की समस्त सम्पत्ति और रोम में उसके अनुकरण के उपरान्त दसवीं शताब्दी में वहाँ एक नाट्य का श्री गणेश किया गया। इसका रूप था चार पंक्तियों का एक छोटा रूपक जिसको ईस्टर की सर्विस में स्थान दे दिया जाता था।"[2]

फ्रांस के नाटक-इतिहास मे नाटक की उत्पत्ति का कोई स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता परन्तु यह निश्चित है कि सन् १५४८ ई० में वहाँ एक ऐसा कानून बना जिसके अनुसार रंगमंच पर धार्मिक नाटकों के अभिनय को रोक दिया गया। इससे सिद्ध होता है कि फ्रांस मे आदि नाटक धार्मिक ही थे।

अंगरेज़ी के Liturgy Plays भी धार्मिकता के ही द्योतक हैं। अतएव यह निष्कर्ष कि भारतेतर देशो में नाटक की उत्पत्ति धार्मिक उत्सवों अथवा धार्मिक वातावरण के कारण ही हुई, न्याय संगत है।

---

१. "Comedies were first admitted to the Dionysiac festivals in the year 486 B. C., but for many decades before that the comic form had been slowly evolving out of a diverse series of popular entertainments and rituals. In its earliest shape it was indeed, a strange mixture, and for long it betrayed, in its absence of a precise structure, the variety of the elements out of which it had been wrought."

—Ibid., P. 90

२. "It is now recognised that, after all the wealth of Greek endeavour and of imitation of the Greeks in Rome, the theatre in the Xth century made a fresh start in the form of a tiny four line playlet inserted into the Easter-Service."

—Ibid.

२. भारत में

भारत में भी नाटकों का प्रचलन उत्सवों और धार्मिक कृत्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता इस बात पर प्रकाश डालती है कि आर्य-सभ्यता से पहिले यहाँ शिव की उपासना प्रचलित थी। सिन्धुघाटी में मिली हुई मुद्राओं में से एक पर एक व्यक्ति के दाहिने ओर एक हाथी और एक चीता बैठा है, बाईं ओर एक जल-हस्ती (Rhincerus) तथा भैंस और पीढ़े के नीचे दो हिरन अथवा बकरियाँ हैं। मार्शल ने इस मूर्ति को 'पशु-पति' शिव माना है।*

नाटक की उत्पत्ति और विकास से शिव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'नटराज', 'नटेश' 'महा-नट' और 'नट-नाच' आदि शब्दों का प्रयोग इसका ज्वलंत प्रमाण है। ऐसा प्रतीत होता है कि मंगलाचरण मे 'नान्दी-पाठ' शब्द का 'नान्दी' भी उन्हीं के वाहन को ध्यान मे रख कर प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत मे सब से प्रथम नाटक 'त्रिपुर-दाह' माना जाता है। यह कथा भी शिव से ही सम्बन्धित है। इन असुर नगरों का ध्वंस शिव के द्वारा हुआ था। वैसे भी शैवागमों के अनुसार 'इच्छा', 'ज्ञान' और 'कर्म' का शमन कर भक्त 'आनन्द' की ओर प्रेरित होता है। ये तीनों भी 'त्रिपुर' कहलाते हैं। इन आसुरी वृत्तियों के नाश होने पर ही 'चिदानन्द' की प्राप्ति संभव है। अतएव कथा के मूल मे शिव की आराधना और देवता रूप में उनकी महत्ता का प्रमाण स्वतः सम्मिलित है।

भारतीय विचार-धारा मे शिव-पूजा का बड़ा महत्व-पूर्ण स्थान है। सिधु-घाटी की सभ्यता बता रही है कि आर्यों से पहिले 'पशुपति' प्रधान देवता थे। आर्य-युग में भी सूर्य और अग्नि की महत्ता कम नहीं

---

* "On one of the seals, the figure is flanked on its right by an elephant and tiger and on its left by a rhinoceros and a buffalow whilst below the stool are two antelopes cr goats (Pl. XXIII). Marshall recognises in the figure a prototype of Siva in his aspect as 'Pas'upati Lord of Beasts."

—The Indus Civilisation by Sir Mortimer Wheeler. P.79

हुई। सूर्य, सविता, उषस् आदि की प्रशंसा और उपासना के महत्व से अनेक ऋचायें भरी पड़ी हैं। शक्ति उपासना भारत की प्रधान उपासना थी। 'यात्रा' शब्द स्वयं इस विचार-धारा का पोषक है। सूर्य घूमता है अपनी कीली पर इस तथ्य को आज का विज्ञान भी मानता है। सूर्य की विभिन्न संक्रान्तियाँ, जो आज भी भारत के भिन्न भागों मे, पर्व और उत्साह का विषय हैं वास्तव में और कुछ नहीं 'सूर्य-यात्रा' ही थीं। वैष्णव 'यात्रा' तो बाद में प्रचलित हुई। कोणार्क का सूर्य-मन्दिर इसी प्राचीन परम्परा का द्योतक है।

वास्तव में सूर्य की संक्रांतियों का इतिहास महत्त्वपूर्ण है। संक्रांतियाँ इस प्रकार हैं—

कर्कट संक्रान्ति—२१ जून से २१ सितम्बर तक
तुला संक्रान्ति—२१ सितम्बर से २१ दिसम्बर तक
मकर संक्रान्ति—२१ दिसम्बर से २१ मार्च तक
मेष संक्रान्ति—२१ मार्च से २१ जून तक

यही संक्रान्तियाँ संवत्सर चक्र भी कहलाती हैं।

उत्तर-भारत में मकर संक्रान्ति बड़ा पर्व माना जाता है। इसी समय से सूर्य दक्षिणायन से उत्तराभिमुख होते हैं और मेष-संक्रान्ति में होते हुए अन्न, धान आदि को पकाते हैं। पंजाब में लोढ़ी का त्योहार भी इसी की परम्परा का अवशेष है। मध्य-भारत और दक्षिण में कर्कट एवं तुला संक्रान्तियों का महत्त्व है। गणेश-चतुर्थी का पर्व इन संक्रान्तियों में ही पड़ता है।

सूर्य पूजा का ही रूप शिव-पूजा और गणेश-पूजा है। सूर्य-पूजा का प्रधान कारण उसकी वह प्राकृतिक शक्ति है जिसके द्वारा मानव को जीवनदान देने वाले धान आदि पदार्थों की सृष्टि होती है। उसकी शक्ति की पूजा प्रत्येक नर-नारी के हृदय-स्थित आह्लाद का उन्मेषण है, अपने जीवनदाता के प्रति आनन्द-निवेदन है! अवश्य इस उल्लास की अभिव्यंजना का श्रीगणेश 'नृत्य' से हुआ होगा। कालान्तर में विकसित हो कर इसमें 'नृत्त' और 'नाट्य' का समावेश हुआ। परिणाम स्वरूप नाट्याभिनय के तीनों तत्त्वों—ताल-लय संयुक्त अंग-विक्षेप (नृत्त), हाव

भाव तथा विभिन्न मुद्रा युक्त नर्तन (नृत्य) तथा नृत्य गीत साहित्य वाचिक, आहार्य एवं सात्विक अभिनय—का विकास हुआ और ये तीनों नाट्य के अभिन्न अंग बने।

अतएव निर्विवाद है कि धर्म उत्सवों के अवसर पर ही नाटक के उपकरणों का प्रयोग होता था और कालान्तर में यही नाटक का उत्पत्ति-कारण माने गए।

आरंभ मे सूर्य देवता ही स्वयं पूजा के पात्र थे। उसके पश्चात् उन्हीं के लक्षणों की प्रतिमूर्ति शिव ने उनका स्थान ग्रहण किया। शिव-पूजा की प्राचीनता का प्रमाण शिव की वे मूर्तियाँ हैं जो भारत की समस्त दिशाओं मे थल सीमा प्रर समुद्र आदि के किनारे अभी तक पाई जाती है यथा रामेश्वरम् तथा द्वारिका। मोहंजोदड़ो में निकली हुई शिवमूर्तियाँ भी शिवपूजा की प्राचीनता का प्रमाण हैं। शिव की पूजा के साथ साथ मातृका और उसके पुत्र के रूप में कुमार और देवी की अनेक मूर्तियाँ एशिया माइनर से ले कर भारत तक पाई जाती हैं। संक्षेप में सूर्य की शक्ति की पूजा विभिन्न देशों में, भिन्न-भिन्न कालों में तरह तरह के रूपों में प्रचलित थी। परन्तु सब के पीछे मूल धारणा एक ही थी।

अतः यदि भारत के नाटक की सृष्टि का सम्बन्ध शिव से लगाया जाय तो युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है।

हिन्दी नाटकों की उत्पत्ति के विषय में यही कहा जा सकता है कि भारत मे साहित्यिक और लोकप्रिय दोनों प्रकार के नाटकों का अभिनय होता था। संस्कृत की नाटक परम्परा जिस रूप मे चली उसका इतिहास उपलब्ध है। लोकप्रिय नाटक लोक-भाषा में ही लिखे जाते थे। इस प्रकार के नाटकों मे 'रासक' या 'रासो' प्रसिद्ध हैं। डा० दशरथ ओझा ने इस प्रसंग पर प्रकाश डाला है।[1] अतएव उसको दोहराने की यहाँ आवश्यकता नहीं। ये लोकभाषा की परम्परायें अभी भी सांगीत, रामलीला, रासलीला, नौटंकी आदि रूपो में सुरक्षित है।...

---

१. दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास

अध्याय २

पूर्व-भारतेन्दु नाटकों का परिचय

१. हनुमन्नाटक

(ले० का० सन् १६२३ ई०)

इस नाम से चार नाटकों का वर्णन विभिन्न लेखकों ने किया है। सब से पहला नाटक पं० बलभद्र मिश्र कृत है। ये ओरछा के सनाढ्य ब्राह्मण पंडित काशीनाथ के पुत्र और प्रसिद्ध कवि केशवदास के बड़े भाई थे। इनका रचना-काल सन् १५८३ के लगभग है। बलभद्र मिश्र कृत *'नख शिख'* की टीका करते हुए सन् १८३४ ई० में गोपाल कवि ने इस नाटक का उल्लेख किया है[1]। इस उल्लेख के अतिरिक्त और कोई जानकारी इसके सम्बन्ध में नहीं है। अनुमान से यही कहा जा सकता है कि संभवतः यह भी संस्कृत नाटक का या तो अनुवाद होगा अथवा उसका रूपान्तर।

दूसरे नाटक के लेखक 'राम' हैं। इनका रचना काल सन् १६७३ के लगभग है[2]। इस ग्रन्थ के विषय में भी कुछ विशेष पता नहीं। तीसरे लेखक 'मंजु' हैं[3] परन्तु इनके *हनुमान नाटक* के विषय में भी जानकारी नहीं है। यह नाटक १९ वीं शताब्दी का है।

चौथा नाटक हृदयराम का है। अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए उन्होंने नाटक के अन्त में लिखा है :—

संवत् विक्रम नृपति सहस षटशंत असीह वर,
चैत्र चाँदनी दूज छत्र जहँगीर सुभट पर।
शुभ लच्छन दच्छन सुदेश कवि राम विच्छन,
कृष्णदास तनु कुल प्रकाश जस दीपक रच्छन।

१. हिन्दी ... तेहास—ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २४
२. वही,
३. आ... ...न—ले० डा० लक्ष्मीसागर व

रघुपति चरित्र तिन यथामति प्रगट करयो शुभ लगन गण।
दे भक्ति दान निरभय करहु जय रघुपति रघुवश मण॥

इसके अनुसार इनके पिता का नाम कृष्णदास था। यह राम के भक्त थे और विक्रम संवत् १६८० अर्थात् सन् १६२३ ई० मे इन्होंने '*हनुमन्नाटक*' की रचना की जिस समय सम्राट जहाँगीर विराजमान थे। इस पुस्तक का पूरा नाम '*हनुमन्नाटक राम गीता भाषा*' है।

संस्कृत का हनुमन्नाटक

यह हनुमान जी कृत माना जाता है और उसके दो संस्करण प्रचलित हैं—एक '*महानाटक*' नाम से ९ अंकों का नाटक जिसका सम्पादन श्री मधुसूदन मिश्र ने किया है और जो बंगाल में प्रचलित है, दूसरा, '*हनुमन्नाटक*' के नाम से १४ अंकों का नाटक जिसका संकलन दामोदर मिश्र ने किया है और जो महाराष्ट्र देश में प्रचलित है। संस्कृत के इस नाटक मे आरंभ में 'नान्दी' के पश्चात् 'स्थापना' नहीं है और न ही उसमें प्रवेश तथा निष्क्रमण का कोई निर्देश है। कभी-कभी दो पात्रों की बातचीत के बीच मे तीसरे की उक्ति आ जाती है और पढ़ने वाला सोचता है वह कहाँ से आ गई जब कि मंच पर तीसरा कोई व्यक्ति उपस्थित ही नहीं है। ऐसे स्थलों पर कवि अपनी उक्तियों के द्वारा कथावस्तु के विकास और कार्य-व्यापार की गति का संचालन करता जाता है और वह यह भूल जाता है कि ऐसा करना नाटकशास्त्र के नियमों और परम्पराओ दोनों के विरुद्ध है। वास्तव में तो इस नाटक का नाम अंक-विभाजन के कारण है। इसमें अनेक ऐसे श्लोक हैं जो *अनर्घराघव* और *प्रसन्नराघव* मे आए हैं विशेष कर पहले और १४ वें अंकों में। उदाहरण के लिए—

हनुमन्नाटक अंक	श्लोक		*प्रसन्नराघव* अंक	श्लोक
१,	११	=	१	३२
१	४१	=	४	२५
१	४५	=	४	२३
२	४	=	७	६०
४	१४	=	५	४५
१०	१६	=	६	३०

हनुमन्नाटक अंक	श्लोक	=	अनर्घराघव अंक	श्लोक
१	१३	=	३	४४
१	१६	=	३	५०
१	२४	=	३	६१
१	४२	=	४	४६
१	४३	=	४	५२
१	४४	=	४	३३
५	१५	=	५	१७
६	३२	=	५	३
७	९	=	६	७
१४	२५	=	६	५८
१४	३६	=	६	५०

इस नाटक के अनेक प्रसंग पठनीय हैं विशेषकर चन्द्रोदय वर्णन, राम-जानकी-विहार (यद्यपि ये लौकिक शृंगार से पूर्णतः ओतप्रोत है), सीताहरण पर राम विलाप, बाली की मर्मस्पर्शिनी उक्ति, रावण के मंत्री-मंडल में राजनीति का वर्णन, लक्ष्मण के शरीर में शक्ति लगने पर राम-विलाप, राम-रावण-युद्ध आदि।

हिन्दी हनुमन्नाटक

परिचय—हमारे हिन्दी कवि हृदयराम के हनुमन्नाटक का आरंभ प्रथम अंक से होता है परन्तु उसमें न तो कोई सूत्रधार आता है और न नटी ही। बिना किसी प्रकार के नान्दी पाठ या अन्य नाट्य शास्त्र के नियमों का ध्यान रखे कवि आरंभ कर देता है :

तीनो लोकपति प्राणपति प्रीति ही मे रति,
अगिनत गती के चरण शिर नाइहौं।
सदा शीलपति सतपति एक नारी व्रत,
शिव सनकादि पति यशहि सुनाइहौं।
सुरपतिहू के पति जानकी के पति, राम
नैन कोर ओर कबहूँ तो पर जाइहौं।
फुरे वाकपति सुनो संत साधुमति तब,
ऐसे रघुपति के कछुक गुण गाइहौं॥

रघुपति के गुणगान की इच्छा के पश्चात् रामनाम महिमा, राम की प्रशंसा, राम-नाम वर्णन में देवताओं की असमर्थता, राम-नाम से कार्य-सफलता, अपनी असमर्थता दिखाता हुआ लेखक भगवान से भक्ति-भीख की याचना करता है—"वे उदार राय हैं मैं भक्ति भीख माँगो, वै तो रामचन्द्र चन्द्रमा, चकोर मन 'राम' को।" इसी प्रसंग में भिन्न-भिन्न मतवालों द्वारा राम-रूप-वर्णन आया है; जिसके अनुसार

शैव कहैं 'शिव' यों रघुवीरहिं, 'ब्रह्म' कहैं सब वेद-पढ़ैया।
'बौध' कहैं इक, 'कर्म' कहैं इक, 'धर्म' कहैं इक धाम-सहैया।
एक कहैं 'करता, हरता जन', एक कहैं 'घट प्राण बसैया'।
ते प्रभु राम सुनो अपनो यश, है सब घोसन दौर सुनैया॥

अपने ऐसे चरितनायक के पूर्वजों की कथा न कह कर लेखक एक कवित्त में ही अपने समस्त नाटक की कथा का सार दे डालता है।

ऋषि संग जाइबो, धनुष चटकाइबो,
धरनिजा बिबाहिबो, बडो ही यश पाइबो।
धायबो परशुराम गल में सिसाइबो,
उलट बन जाइबो, श्रीराम राज गाइबो॥
बाट को सिधाइबो, जनकजा चुराइबो,
समुद्र को पटाइबो, लंकपति घाइबो।
वीर तीय संग ले पलट घर आइबो,
सु ऐसो रामचन्द्र गीत तुम्हें हैं सुनाइबो॥

इस कवित्त से स्पष्ट हो जाता है कि कवि नाटक का आरम्भ राम जन्म से नहीं करना चाहता वरन ऋषि विश्वामित्र के अयोध्या-आगमन से श्रीगणेश करने की उसकी इच्छा है और ऐसा ही किया भी गया है। दूसरी बात यह भी है कि उसका उद्देश्य रामचन्द्र-गीत सुनाना है किसी प्रकार का नाटक उपस्थित करना नहीं। संभवतः इसी कारण पुस्तक का नाम *'राम गीता भाषा'* है और *'हनुमन्नाटक'* उसके साथ इसलिए जोड़ दिया गया है कि लेखक ने संस्कृत के *'हनुमन्नाटक'* ग्रंथ से अपने कथा-विस्तार, वर्णन-क्रम तथा कुछ भावों में सहायता ली है। *'रामगीता भाषा'* में १४ अंक हैं जो अलग-अलग नाम से प्रसिद्ध हैं। पहिले का नाम *सीता-विवाह* अंक है और इसमें विश्वामित्र का अयोध्या में आकर राम-लक्ष्मण को अपने साथ ले जाना, ताड़का-

वध, सुबाहु-मारीच-युद्ध, विश्वामित्र के पास राजा जनक के दूत का आना, जनकपुरी की ओर गमन, राजा द्वारा उनका स्वागत, धनुष-यज्ञ मे राजाओं की असफलता, राम द्वारा धनुष भंग, दशरथ का बारात ले कर अयोध्या से मिथिला जाना, सीता-विवाह, अयोध्या लौटते समय मार्ग में परशुराम से मिलन और विवाद में उनका परास्त होना तथा अयोध्या नगरी में प्रवेश आदि सारे प्रसंग आ गए हैं।

इस अंक में प्रचलित कथानक की अपेक्षा कुछ नवीनतायें भी हैं। जनक के पुरोहित द्वारा राजा की प्रतिज्ञा सुनाने पर रावण का दूत उनसे सीता को अपने स्वामी के लिए माँगता है। अपने स्वामी की शक्ति और सामर्थ्य की बड़ाई उसके प्रत्येक शब्द से टपकती है—वह राम और जनक से कहता है :—

"तोहि तो काहू को दीबो है जानकी, बॉधहि जोर स्वयंवर लीनो,
रे रघुवीर ! तू काहे को ब्याहत, रावण ब्याहन को मन कीनो।
भूप कही धनु आन चढ़ावे तो मै सिय सो धन वाहि को देनो,
रे गुरु को यह नेक न होय तो बाँटत टंक तिहूँ पुर दीनो।
इन्दु उमा दुरदानन और षडानन सो गन वृन्दन जेते,
बारन सिंह महीरुह ताल तमाल सरोवर और न केते।
सो गिरिराज कैलाश उठाय लियो कर बाम डरो नहिं लेते,
जो दुज को बल तू नहिं जानत बूझ ले मूढ जुरे नृप एते ॥"

रावण के सम्बन्ध में इस गर्वोक्ति का बहुत ही उचित उत्तर महाराज जनक उसके दूत को देते हैं—

"गुरु को धर तोलत लाज भई न, कमान चढ़ावत लाज मरे।"

राजाओं की असफलता पर

"श्री रघुवीर कही सब सो भई वीर विना छिती रोई पुकारी,
देखहु हाथ लगाय सबै भट नाक चली कट नाक तुमारी।"

यह कथन भी अपनी विशेषता रखता है। तुलसीदास ने 'वीर विहीन मही मैं जानी' शब्द राम से न कहला कर जनक से कहाये हैं और उनका ही ऐसा कहना उपयुक्त है। इसी प्रकार सीता का निश्चय "वरों इनको कि मरों विष खाई" भी बड़ा अजीब सा लगता है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ये दोनों बातें राम तथा सीता की मर्यादा और शील के विपरीत दिखाई देती हैं। राम का परशुराम से कहना—

फारतो कपाल[1] बोल बोलत ही बामन को
डारतो उखाड़ डाढ़ जमी जे वदन में,
जीत वीर खेत पठै[2] देत यमलोक तोहि
लेतो सब क्षत्रिन को बैर एक छिन में।
कहा करौं हत्या प्राण अब जो तिहारे हतो
सुभट कहाय रन टाड़ो होतों रन में,
यहै जान नाते ही बच्यो है एक बामन के
'काशीराम' समभ समभ कर मन में॥

भी उनके चरित्र के विरोध में प्रतीत होता है, विशेषकर जब एक क्षण बाद ही वह कहते हैं

"काशीराम कहै रघुवशिन की रीति यहै
जासों कीजै मोह तासों लोह कैसे गहिये।"

कहाँ शान्त प्रकृति राम और कहाँ उनके ये वचन !!

अन्त में परशुराम का वचन,

"तौ हो छोड़ जाऊँ तोहि साँची कह बात मोहिं,
राम अवतार भयो मोहू को बताय दै।"

एक बालक की जिज्ञासा जैसा प्रतीत होता है। एक और उक्ति इसी प्रकार की है जो परशुराम जी के धनुष को राम द्वारा खिंचते हुए देख कर सीता ने कही है। कवि के ही शब्दों में

राम पनच ता धनुष की, ऐंची जब मति लाय।
देख जनकजा ताहि सन, मन धर रोष रिसाय॥
याहू को तो बोल कछु तात को सो देखत हौं,
ऐसे तो अनेक ह्वैहैं कहाँ कहाँ जाई है,
काल ब्याही, नई हौं तो धामहू न गई पुनि
आजहू ते मेरे शीश सौत को बसाई है।
राजन की रीत विपरीत सब जाने जग
काके वश भये मोह ऐसे डर काई है,
मन मे विचारे बाल लै चढ़े उतारे सीय,
तोर के धनुष याका (?) बेटी व्याह लाई है॥

दूसरा अंक *'रामचन्द्र वियोग'* अंक है। इसके आरंभ होने पर

---

१. पुस्तक में पाठ 'कपोल' है जो अशुद्ध प्रतीत होता है।
२. पुस्तक मे पाठ 'पड़े' है, जो अशुद्ध प्रतीत होता है।

लिखा है 'अथ अयोध्याकांड प्रारंभः'। इसमें राजा दशरथ की इच्छा 'हौं वन वास तप को करो', राम के राज्याभिषेक का समाचार सुन कैकेयी का राजा के पास जा कर दो वरदान माँगना, सीता लक्ष्मण सहित राम का अयोध्या-त्याग, राजा की मूर्च्छा तथा माता कौशल्या और अयोध्यावासियों के वियोग का वर्णन है।

कथानक की दृष्टि से कोई नवीनता नहीं है। मंथरा की सृष्टि की आवश्यकता लेखक को नहीं पड़ी। कैकेयी ने अपना काम स्वयं कर लिया है। केवल इतना ही नहीं "दौर के पौर में बोली वसिष्ठहि राम चितै यह बात सुनाई; मोहि दिये वर द्वै, इनको बन, मो सुत को अपनी ठकुराई।" और यह सुन कर जब वसिष्ठ जी ने कहा "राम चलो राजा से पूछें तो कि यह क्या बात है! पहले आपका विचार और था और अब और हो गया" तो झट उनकी सौगंध खा कर कैकेयी बोल उठी :—

"भूप कही जिन मोहिं मिले, बन जाय बसो कहु जाय पुकारी।"

यह सुन कर कुल पूज्य और राम पर क्या बीती, इसका चित्र लेखक ने एक सवैया में बड़ा अच्छा खींचा है :—

सो रिस कैकयी भीतर भौन सुतै बन भूपति सो न मिलाए।
बैठ प्रणाम कियो तिहठॉ तिन तात के बोल ले माथ चढ़ाए॥
शोक भरे ऋषि लोकन सों कह्यो, राज्य रह्यो बनवास पठाए।
राजन राज दियो लघु वीरहि, यों रघुवीर फिरे घर आए॥

राम के अयोध्या से जाने पर कवि की यह उक्ति

'गाँव उजार भयो हरताल चले रवि राम भयो अँधियारो।'

बीसवीं शताब्दी का चित्र हृदय पटल पर अंकित कर देती है। चरित्र-चित्रण में कोई विशेषता नहीं।

तीसरा अंक '*कपट मृगागमन*' है। इसमें राजा दशरथ की मृत्यु, भरत का ननसाल से आना और माता पर क्रोध, चित्रकूटागमन और वहाँ से वापिसी, राम का पंचवटी में वास, शूर्पणखा को विरूप करना, खर-दूषण की मृत्यु, रावण के पास समाचार पहुँचना और उसका वहाँ आना, इसी बीच उसकी पत्नी मंदोदरी का उसे समझाना, मारीच का माया-मृग बन कर आना और सीता के कहने से राम का उसके

पीछे जाना वर्णित है। चौथे अंक में *'सीताहरण'* की कथा है।

दोनों अंकों में कथानक और चरित्र-चित्रण की कोई नई बात नहीं है केवल मंदोदरी को ला कर लेखक ने उसकी प्रवृत्ति का आभास दे दिया है। "तौ लग रावन ह्वै जुगिया, सिय के ढिग गोरखनाद जगायो" से यह पता अवश्य चलता है कि लेखक के समय में गोरख-पन्थियों का कितना प्रभाव था और 'गोरख जगाना' वाली उक्ति का कितना अधिक प्रचार हो गया था।

'पाँचवाँ अंक *'बालिवध'* की कथा से सम्पन्न है और उसमें सीताहरण के कारण राम-विलाप, जटायु रावण-संवाद, राम-जटायु-मिलन और गृध्रराज की मुक्ति, राम हनुमान मिलन, राम-सुग्रीव मैत्री, अंगद को युवराज बनाना तथा वालि-वध प्रसंग है। राम के विलाप में कवि ने बड़े अच्छे छंदों की योजना की है। वाली का चरित्र भी अच्छा उतरा है। छठा अंक *'हनुमल्लंकादहन'* का है। इसमें राम का हनुमान को अपनी मुद्रा दे कर सीता की पहचान के लिए उनका रूप वर्णन, हनुमान का समुद्र लांघना, लंकाराक्षसी-वध; हनुमान-जानकी-संवाद, अशोक वाटिका उजाड़ना और लंका-दहन की कथायें हैं। हनुमान के चरित्र की एक बड़ी स्वाभाविक विशेषता का वर्णन कवि ने इस अंक में किया है—

जो विजि हैं रघुवंशमणि, ह्यॉ तो यश लें जाउँ।
प्राण रहे कै यश रहे, दो मे एक कमाऊँ॥

'बड़ो बाँदर कहाइहौं' की महत्वाकांक्षा हनुमान के चरित्र को केवल भक्त ही नहीं रहने देती, विकट कार्य करने की प्रेरणा भी प्रदान करती है।

सातवाँ अंक *'सिंधु-सेतु-बंधन'* है जिसमें बानर सेना सहित राम का समुद्र पार होना और समुद्र का गर्व चूर्ण करना वर्णित है। कोई अन्य विशेषता नहीं। सुग्रीव एवं अंगद का यह कह कर अपना वीरत्व और व्यक्तित्व प्रदर्शित करना

नाथ हम सागर की गैल कैसे चलें अरु
तुम ही विचारो यामे कौन बात ओप की।

किधौं या के बाँधवे को हैं न बलवन्त हम,
किधौं हनुमान हू के आगे पति लोप की ॥

बड़ा सुन्दर और स्वाभाविक है !

आँठवाँ अंक *'रावण-अंगद-संवाद'* है। इसमें विभीषण की रावण को मंत्रणा, विभीषण का राम-शरण में आना, मन्दोदरी का पति को समझाना, राम का अंगद को दूत रूप में रावण के पास भेजना, रावण-अंगद-संवाद और असफल हो कर लंका से वापिस आने का वर्णन है। अंगद-रावण-संवाद अच्छा है और शक्तिशाली भाषा में लिखा गया है।

९ वें अंक का नाम *'मंत्री उपदेश'* है। इसमें रावण और मंदोदरी की बातचीत है और यह बतलाया गया है कि रावण न तो अपनी पत्नी ही की सलाह मानता है और न अपने मंत्रियों की ही। मंदोदरी बड़े तर्क और बुद्धि के साथ रावण को समझाती है परन्तु रावण तो एक भी नहीं मानता। बल्कि कहता है :—

"मंत्रिन को अरु नारि को, देखत एक विचार।"

१० वाँ अंक *'रावण प्रपंच रचना'* का है। रावण अपनी माया से राम और लक्ष्मण के मरने का समाचार ले कर सीता के पास जाता है। सीता राम को मरा जान कर विलाप करती है और जैसे ही उनका सिर छूने के लिए आगे बढ़ती हैं कि आकाश-वाणी होती है।

"...............शोक तज एक मात,
राम कैसे रावण के हाथन समायेंगे।"

रावण भाग जाता है परन्तु फिर एक बार राम-रूप धारण कर और हाथ में वैरी (रावण) का शिर ले कर सीता के पास आता है। सीता विजयी राम से भेंटने के लिए आगे बढ़ना चाहती हैं, परन्तु पैर आगे नहीं बढ़ने देते। फिर भेद खुल जाता है। त्रिजटा इस बार सीता को बचा लेती है जिसके परिणाम स्वरूप दोनों में घनिष्ठता बढ़ जाती है।

११ वाँ अङ्क *'कुंभकर्णवध'* अङ्क है। किसी प्रकार की विशेषता नही है। १२ वाँ अङ्क *'इन्द्रजीतवध'* है। इसमें भी कोई नवीनता नहीं। लक्ष्मण के हृदय में शक्ति न तो कुंभकर्ण द्वारा लगवाई गई है और

न मेघनाद के द्वारा ही।

१३वें अङ्क का नाम *'लक्ष्मण जीवन'* है। पुत्र की मृत्यु पर रावण का क्रोध और उत्साह दोनो स्वाभाविक हैं। सफलता न मिलने पर वह ब्रह्मा को दबाता है जो रोब मे आ कर अपने पुत्र नारद से हनुमान जी को लक्ष्मण की रक्षा से अलग हटने के लिए आज्ञा देते हैं। तभी उनकी अनुपस्थिति में रावण द्वारा लक्ष्मण के शक्ति लगती है, और वह मूर्च्छित हो जाते हैं। हनुमान लंका से सुखैन वैद्य को लाते है और फिर संजीवनी बूटी ला कर लक्ष्मण की मूर्च्छा समाप्त करते हैं। इस प्रसंग में राम का भ्रातृ-वियोग-विलाप बड़ा ही करुण है। अयोध्या में भरत द्वारा जब लक्ष्मण की मूर्च्छा का समाचार कौशल्या तक पहुँचता है तो वह भी मूर्च्छित हो कर गिर जाती है और यही संदेश दे कर हनुमान को भेजती हैं :—

"मेरी कही राम सो कहियो। तुम लछमन बिन जियत न रहियो।
फिर आवहि तो दोनो भाई। जूझो रण चौगुनी बड़ाई।
कहियो कपि रण पीठ न दीजो। जूझ काम अर्जुन सो कीजो॥"

१४ वाँ अङ्क *'रघुनाथ राज्याभिषेक'* अङ्क है। इसमें रावण का वध, मंदोदरी का विलाप, राम का समझाना, विभीषण के संग विवाह कर पटरानी बनने की सलाह देना, रावण की दाहक्रिया, सीता का लक्ष्मण हनुमान सहित आना, अग्नि-परीक्षा में सफलता, विमान पर आरूढ़ हो सबका अयोध्या की ओर चलना, मार्ग में राम का सीता को युद्ध-स्थान दिखाना, अयोध्या में आगमन और राज्याभिषेक तथा सब देवताओ और स्त्री पुरुषों का आशीर्वाद आदि प्रसंग हैं।

मूल और अनुवाद

दोनों का मिलान करने पर जो समता दिखाई देती है वह नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जावेगी :

मूल संस्कृत नाटक			हिन्दी नाटक	
अङ्क	श्लोक		अङ्क	छंद
१	३	=	१	४
१	४९	=	१	१०४

अङ्क	श्लोक		अङ्क	छंद
१	५१	=	१	१०८, १०९
५	२	=	५	१४
५	४	=	५	१९
५	१६	=	५	३६, ३७
५	१९	=	५	२३
५	२०	=	५	१०
५	३५	=	५	५२
५	३६	=	५	५३
६	२	=	६	३
६	५,६	=	६	११
६	१६	=	६	४४
६	१९	=	६	६६
६	२२	=	६	८४
६	२७	=	६	९१,९२
६	२८	=	६	९४
६	३३	=	६	६९
६	३६	=	६	१०३
६	४०	=	६	१०८
७	२	=	७	३
७	५	=	७	६
७	६	=	७	१०
८	२	=	८	२
८	६	=	८	४३
८	३२	=	८	६४
१०	७	=	१०	४८
१०	१८	=	१०	२६,६१
११	१७	=	११	४३
१२	१३	=	१२	५१
१३	२२	=	१३	२०५
१३	२६	=	१३	२१३ और २३०
१४	१	=	१४	४

ऊपर का दी गई है उसमें केवल भावों की

ही । मूल कथा, उसके

में भी दोनों नाटकों में पर्याप्त भेद है। अंकों की दृष्टि से दोनों में १४ अंक हैं। मूल संस्कृत मे पहले अंक का नाम *'जानकी-स्वयंवर'* है और हिन्दी मे *'सीता-विवाह'*। दोनों का अन्त प्रायः एकसा है। कथा-भाग मे एक बड़ा अन्तर यह है कि परशुराम जी के शान्त होने के पश्चात् मूल संस्कृत नाटक में राम का विवाह सम्पन्न होना बताया गया है। परशुराम जी ने स्वयं और ऋषियों के साथ उस कर्म को संपादित किया है परन्तु हिन्दी नाटककार ने परशुराम जी के आगमन को व्याह होने के पश्चात् अयोध्या जाते समय मार्ग में दिखलाया है। मूल के दूसरे अंक में *'राम जानकी विलास'* मे इसी प्रसंग का वर्णन है। हिदी में उसका नाम *'श्री रामचन्द्र वियोग'* है। इसमें कैकेयी की वर-प्राप्ति और सीता लक्ष्मण सहित राम के वन गमन का वृत्तान्त है। संस्कृत के दूसरे अंक का कोई भी प्रसंग इसमें नहीं है और इस दृष्टि से दोनों का दूसरा अंक अलग अलग है। संस्कृत के तीसरे अंक का नाम *'माया मृगागमन'* है और इसमें संक्षेप में मारीच के वध के लिए राम का उसके पीछे जाने वाला प्रसंग आ गया है। मारीच की मृत्यु और सीता-हरण तथा जटायु का रावण से युद्ध, राम का मारीच-वध के पश्चात् कुटी पर लौट कर सीता को न देखना आदि प्रसंग चौथे अंक मे हैं और इसी से उसका नाम *'सीताहरण'* है। हिन्दी में भी तीसरे अंक का वही नाम है परन्तु कथा-भाग में मंदोदरी द्वारा रावण को सीता-हरण के षड्यन्त्र से बचने के लिए कहलाया गया है। चौथा अंक *सीता-हरण* ही है और उसमें उसी की कथा है। पाँचवा अंक दोनों में एक ही है—*'बालिवध'*। छठे अंक का नाम मूल मे *'हनुमद्विजय'* है और हिन्दी में *'हनुमल्लंकादहन'*। परन्तु जो विस्तृत वर्णन हिन्दी मे सारी घटनाओं का है, वह संस्कृत में नहीं। सातवाँ अंक दोनों में *'सेतु-बन्धन'* है। संस्कृत में भिल्लिनी की पुत्री और उसकी माता के संवाद द्वारा राम की विशाल सेना का विचित्रता से वर्णन कराया गया है। हिन्दी में इसी प्रसंग को स्त्रियाँ अपने आदमियो (पतियों) से कह रही है जो अधिक स्वाभाविक लगता है। सागर द्वारा संस्कृत में जो वचन राम के प्रति कहलाये गए हैं वे भी

खिलवाड़ से लगते हैं। परन्तु हिन्दी में जो संवाद है उसमें गंभीरता भी है और सजीवता के साथ साथ राम के प्रति समुद्र की भक्ति-भावना भी है। आठवें अंक का नाम संस्कृत में *'आङ्गदाधिक्षेपण'* है और हिन्दी मे *'रावण अंगद संवाद'*। संस्कृत मे विभीषण का राम की शरण में आना सातवें अंक में वर्णित करा दिया गया है और हिन्दी में आठवें अंक में—"रावण के डर छॉड़ चल्यो गढ़ मोह तजो जनु जात जती सों।" इसी प्रकार मन्दोदरी द्वारा रावण को यह सूचना—

"...कंत सुनी ठकुराई तेरे भाई पाई लंक की" (२०)

मूल में नहीं है। नवाँ अंक *'मंत्री वाक्य'* और *'मंत्री उपदेश'* है। दोनों में मंदोदरी और मंत्री ने रावण को निरर्थक ही युद्ध न करने के लिए मंत्रणा दी है। हिन्दी में *'कवि की भक्ति'* शीर्षक कुछ दोहे और सोरठे (१९-३५) दे दिये गए हैं। इनकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कवि ने केवल अपनी भावना को प्रकट करने के लिए ऐसा किया मालूम होता है। मंदोदरी का समझाना बड़ा ही तर्कयुक्त और स्पष्ट है—यहाँ तक कि उसकी इस शक्ति को देखकर एक बार देवता भी घबराने लगते हैं और सोचने लगते हैं कि कहीं रावण को प्रभावित कर यह उसके राम द्वारा भावी वध को न रोक डाले। हृदयराम की यह शंका बड़ी ही समीचीन है। दसवें अंक का नामकरण दोनों में एक ही है। भागते हुए रावण का समाचार सुनकर (६-४०) लक्ष्मण और राम में जो वार्तालाप हुआ है वह भी मूल में नही है और मूल के रावण-सीता वाले संवाद को हिन्दी में स्थान नहीं मिला है। इसी प्रकार हिन्दी का सीता द्वारा त्रिजटा के सामने राम-राज्य-वर्णन प्रसंग (७९-८३) संस्कृत में उपलब्ध नहीं। ग्यारहवाँ अंक दोनों में *'कुम्भकर्ण वध'* है। संस्कृत नाटक से एक बात का पता चलता है—उस समय भी भारत में वायुयान चालक स्त्रियाँ होती थीं—

"अत्राऽन्तरे तथा रावणो न वेत्ति तथाऽशोकवाटिकास्थितविमाने जानकीमारोप्य रामं दर्शयति स्म सरमा।

इसी समय सरमा (राक्षसी) जिस प्रकार रावण को मालूम न हो वैसे उपाय से अशोक वाटिका में रखे हुए विमान पर सीताजी को बैठाकर रामजी का दर्शन कराती है।

हिन्दी में इस अंक में दो हास्यपूर्ण परिस्थितियाँ व्यंजित की गई हैं—हनुमान और अंगद के विभीषण से यह पूछने पर

> तोको राज देत हम बीच न बिगारयो काज
> जानत हैं हमें छाड़ भोगन में परोगे।
> भाई की विभूति पाई, रामचन्द्र को रिझाइ
> कहो तो हमारे आगे कहा कहा धरोगे? (१४)

विभीषण बड़े सरल स्वभाव से उत्तर देते हैं :—

> लंक छिरकाय चरणोदक लो हनुमान,
> ताके पाछे तुम्हें कोट विंजन खवाइहौं। (१५)

और दूसरा अवसर कुंभकर्ण को जगाने का है। कवि के ही शब्दों में—

> मेघनाद जाय ढोल लाखक बजाय रह्यो,
> त्यों त्यों कुंभकान जू बडोइ सुख पायो है।
> हाथिन के पुंज ते तो गौड लौं चढ़ाइ रहे,
> मानो पॉव चाप भली भॉति सो सुवायो है।
> बोली तब नार, याको एक है उपाय, कहौं
> जैसे भॉति, रुद्र आन आवन जगायो है।
> कान में गनेश को पठाय पाछे कोटिगण,
> लोचन मुदेई रहे ऊतर सुनायो है। (३३)

कान में गणेश को भेजने की योजना बड़ी ही हास्यप्रद है। बारहवाँ अङ्क दोनों में 'मेघनाद वध' है। हिन्दी कवि ने स्वयं अपने विषय को स्पष्ट करते हुए कह दिया है—

> नई न कथा विचार, सुकवि राम हिरदे कही। (५७)

तेहरवाँ अंक *'लक्ष्मण शक्ति भेद'* और *'लक्ष्मण जीवन'* है। कोई विशेष भेद की बात नहीं है। चौदहवें अंक के लिए भी यही कहा जा सकता है। हिन्दी मे अवश्य कवि की उक्तियाँ (३६-४९; ७४-७६) बीच बीच में आ गई है केवल कथा भाग को स्पष्ट करने और चरित्र को संपूर्ण करने के लिए।

दोनों के चरित्र

मूल के राम भगवान हैं, 'सर्वजगत्पति' हैं। उन्हें शैव सम्प्रदाय के लोग 'शिव' नाम से, वेदान्ती लोग 'ब्रह्म' नाम से, बौद्ध 'बुद्ध' नाम

से, नैयायिक 'कर्ता' नाम से, जैनी 'अर्हत' नाम से, मीमांसक 'कर्म' नाम से, पुकारते हैं और उनकी उपासना करते हैं। वह त्रिलोकीनाथ विष्णुरूप वांछित फल देने वाले हैं :—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

वह राम 'रावणारि', 'दशरथतनय', 'लक्ष्मणाग्र्य', 'गुणाढ्य', 'पूज्य', 'प्राज्य' 'जलधि पर्यन्त विख्यात प्रताप वाले', 'सर्व सौभाग्य सिद्धि' 'विद्यानन्दैककन्द', 'कलिमलपटलध्वंसी', 'सौम्यदेव', 'सर्वात्मानं', 'त्रिभुवन-शरणं', 'प्रत्यहं' और 'निष्कलंकं' हैं। महाराज दशरथ के यहाँ 'उर्वि बर्बर भूरिभार' हरण करने के लिए जो परम कीर्ति वाले नारायण अपने मूल स्वरूप को चार विभाग करके पुत्र में आये हैं उन चार पुत्रों में राम 'ईश्वर-रता' के गुणों और पहले जन्म लेने के कारण सबसे बड़े हुए!

(१, ५ तथा ६)

ताड़का-वध आदि प्रसंग सम्बन्धी राम की वीरता का वर्णन नाटककार संक्षेप में कर देता है और हमें उनकी सौम्य, विनीत तथा बड़ों के प्रति आदर रखनेवाली प्रकृति का सबसे पहले दर्शन उसी समय होता है जब धनुष-भञ्जन पर परशुराम जी अपनी गुरुभक्ति की गरिमा लेकर उद्विग्न और रौद्र भावना से युक्त हो राम को धिक्कारने के लिए मंच पर आते हैं। लेखक थोड़े से शब्दों में ही इस विवाद को शान्त कराकर सीता-राम-विवाह सम्पन्न करा देता है। सम्भवतः वह अपने चरित-नायक की शक्तियों का अपव्यय, अपने परवर्ती कवियों की तरह इस स्थान पर न कराकर, आगे आने वाले तुमुल संघर्ष के लिए रक्षित रखना चाहता है। उनका दूसरा रूप हमें 'विलासी' राम का रूप मिलता है। इस दूसरे अंक में नाटक की गति के ध्यान से कदाचित् यह प्रसंग नहीं रखा गया है। यदि इसका कुछ भी महत्व हो सकता है तो केवल काव्योचित श्रृंगार का वर्णन मात्र करने के लिए, जिसकी नाटक में विशेष आवश्यकता नहीं होती। पाठक को तो एक बार धक्का सा लगता है। प्रथम अंक के राम दूसरे अंक के राम से सर्वथा भिन्न मालूम होते हैं। हाँ आलम्बन उद्दीपन विभाव

आदि के रूप में यह शृंगार वर्णन उपयुक्त है। आगे के प्रसंग राम को पिता का आज्ञानुवर्ती, साहसी, दृढ़-प्रतिज्ञ, पत्नी-प्रेम-सम्पन्न आदि गुणों से विभूषित करने में सफल हुए हैं। उनकी करुण प्रकृति सीता के वियोग तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने के समय उद्दाम रूप से प्रकट हो जाती है। उनका रोष समुद्र पर पुल बाँधने से पहले दिखाई देता है और रावण वध के समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। संक्षेप में राम का चरित्र, केवल 'विलास-प्रियता' को छोड़ कर, परम्परा जन्य जैसा ही है। उसमें देवत्व भी है और मनुष्यत्व भी।

हिन्दी के *हनुमन्नाटक* में परशुराम-राम-संवाद में राम की उग्रता कुछ अधिक है (देखो पृ० ९)। सीता के प्रति राम-प्रेम की व्यंजना इन पंक्तियों में बड़ी सुन्दरता से की गई है :—

राम कही भर बान अबै जो हौं रावण के हिय मारत हों।
तहँ सीय बसे दिन रैन सदा पुनि सी जिय माहिं महारत हों।
(१४. २२)

इसी प्रकार अन्य प्रसङ्ग भी हैं जिनका विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता यहाँ नहीं।

परिणाम यही निकलता है कि मूल संस्कृत और हिन्दी *हनुमन्नाटक* में कथा-विस्तार और रूप, आकार आदि की समानताओं की अपेक्षा विभिन्नतायें अधिक हैं। वास्तव में हिन्दी *हनुमन्नाटक* नाटक नहीं है। वह केवल मूल का काव्यमय रूपान्तर है जिसमें लेखक ने यथास्थान अपने वर्णन भी सम्मिलित कर दिए हैं।

२. समयसार नाटक

(ले० का० सन् १६३६ ई०)

इसके लेखक बनारसीदासजी हैं जिनका जन्म सन् १५८६ ई० में हुआ था। *समयसार नाटक* के समाप्त होने पर लेखक ने कुछ छंद और भी लिखे हैं जिन्हें अन्तिम प्रशस्ति कहना चाहिये। इन छंदों में उसने उन सब परिस्थितियों का वर्णन किया है जिनमें ग्रन्थ की रचना हुई। ग्रन्थ-निर्माण के सम्बन्ध मे उसका कहना है :—

सोरह सौ तिरानवै बीते। आसौ मास सित पच्छ बितीतै॥
तिथि तेरस रविवार प्रवीना। ता दिन ग्रन्थ समापत कीना॥

[(विक्रम) संवत् १६९३ (सन् १६३६ ई०) आश्विन मास शुक्ल पक्ष तिथि १३, रविवार को ग्रन्थ समाप्त किया।]

बनारसीदास जी ने अपनी *अर्ध-कथा* में भी, जो उनका आत्म-चरित है, इसी समय का उल्लेख किया है :—

सौलह सै तिरानवै वर्ष। समैसार नाटक धरि हर्ष॥
[अर्ध-कथा, चौपाई ६३८]

उपरोक्त नाटक की रचना के सम्बन्ध में *अर्ध-कथा* से यह भी पता चलता है कि मूल ग्रन्थ (*समय पाहुड़*) के सम्बन्ध में लेखक की जानकारी संवत् १६८० में हुई थी जब श्री अरथमल जी ढोर से उनकी भेंट हुई। अरथमल जी ने बनारसीदास को *समयसार* की एक टीका पढ़ने के लिए दी। इस टीका के लेखक राजमल्ल थे।

समय असिए व्याहन गए। आए घर, गृहस्थ फिरि भए॥
तब तहाँ मिले अरथमल ढोर। करैं अध्यातम बातैं जोर॥
तिनि बनारसी सौं हित कियौ। समैसार नाटक लिखि दियौ॥
राजमल्ल ने टीका करी। सो पोथी तिनि आगैं धरी॥
कहै बनारसी सौं तू बाँचु। तेरे मन आवेगा साँचु॥
तब बनारसी बाँचै नित्त। भाषा अरथ विचारै चित्त॥
[अ० क०, चौपाई ५९१-९४]

इस उद्धरण से यह पता तो चलता है कि संवत् १६८० में लेखक को मूल ग्रन्थ की टीका पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ परन्तु यह नहीं मालूम होता कि उक्त ग्रन्थ आरंभ कब हुआ ?

ग्रंथ-परिचय

आरंभ के ५१ छन्दों में कवि ने उन सब प्रसंगों का वर्णन कर दिया है जो नाटक *समयसार* को समझने के लिए आवश्यक हैं। इस नाटक में १३ अधिकारों का तात्विक वर्णन है। इन अधिकारों की व्याख्या या वर्णन से पहले लेखक ने यह आवश्यक समझा है कि भूमिका रूप में वह अपनी विचार-धारा की पृष्ठ-भूमि से पाठकों को अवगत करा दे। परिणाम-स्वरूप उसके ५१ छंदों का वर्गीकरण इस

प्रकार किया गया है :—

१. श्री पार्श्वनाथजी की स्तुति	३ छंद,	संख्या १ से ३
२. श्री सिद्ध स्तुति	१ छंद,	संख्या ४
३. श्री साधु स्तुति	१ छंद,	संख्या ५
४. सम्यग्दृष्टि स्तुति	३ छंद,	संख्या ६ से ८
५. मिथ्यादृष्टि लक्षण	१ छंद,	संख्या ९
६. *समयसार* नाटक की महिमा	१ छंद,	संख्या १५
७. अनुभव वर्णन, लक्षण और महिमा	४ छंद,	संख्या १६ से १९
८. जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल आदि ६ द्रव्यों का स्वरूप	६ छंद,	संख्या २० से २५
९. जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, वंध और मोक्ष ९ पदार्थों का वर्णन	९ छंद,	संख्या २६ से ३४
१०. वस्तु के नाम	१ छंद,	संख्या ३५
११. शुद्ध जीव, सामान्य जीव, काल, पुण्य, पाप, मोक्ष, बुद्धि, विलक्षण पुरुप, मुनीश्वर, दर्शन, मन और चरित्र, सत्य और झूठ के नाम	१५ छंद,	संख्या ३६ से ५०
१२. नाटक *समयसार* के बारह अधिकार	१ छंद,	संख्या ५१

नोट—१०वें छन्द मे सिद्ध भगवान की वंदना, ११वें में कवि स्वरूप १२वें-१३वें में कवि लघुता और १४वें में इसका वर्णन है कि हमें भगवान की भक्ति से बुद्धि बल प्राप्त हुआ है।

प्रत्येक अधिकार का सार क्रमशः इस प्रकार है :—

प्रथम अधिकार (जीव द्वार)—आत्म पदार्थ शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, देहातीत, चित् चमत्कार, आनन्दकन्द परमदेव सदृश है। वह जैसा अनादि है वैसा ही अनंत भी है। वह स्वयं निर्मल है परन्तु संसार में आकर वह अनादि काल से शरीर से संबद्ध है और कर्म कालिमा के कारण मलयुक्त है। जिस प्रकार सोना धातु रूप में मल-युक्त रहता है परन्तु अग्नि में पकाने पर शुद्ध रूप धारण कर लेता

है और उसकी कालिमा अलग हो जाती है उसी प्रकार सम्यक् तप और ध्यान की अग्नि के द्वारा जीवात्मा शुद्ध हो जाता है और कर्म की मलिनता से रहित हो जाता है। ज्ञानी अनित्य शरीर में पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्दमय परमात्मा का अनुभव प्राप्त करते हैं। आत्मा को मलिन कहना *व्यवहार नय* का विषय है और उसे कर्मकालिमा से अलग समझना *निश्चय नय* का विषय है। नय-ज्ञान के द्वारा जीव की शुद्ध और अशुद्ध परिणति को समझ कर अपने शुद्ध स्वरूप में लीन हो जाना चाहिए—इसी का नाम *अनुभव* है और अनुभव के प्राप्त होने पर फिर नयों का विकल्प भी नहीं रहता। अतएव आत्मा का स्वरूप समझने के लिए नय साधक हैं परन्तु स्वरूप के समझने के बाद उनका कोई काम नहीं।

जीव के सम्बन्ध में कहा गया है कि चैतन्य, ज्ञान दर्शन आदि जीव के गुण हैं। गुणों के समूह को *द्रव्य* कहते हैं। द्रव्य की हालत *पर्याय* कहलाती है और नर, नारक, देव, पशु आदि जीव की पर्यायें हैं। गुण और पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता। इसलिए द्रव्य और गुण पर्यायों मे अव्यतिरिक्त भाव है। जब पर्याय को गौण और द्रव्य को मुख्य मान कर कथन किया जाता है तब नय *द्रव्यार्थिक* कहलाता है और जब पर्याय को मुख्य तथा द्रव्य को गौण बताया जाता है तब नय *पर्यार्थिक* कहलाता है। द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है। इसलिए नय के विषय में सामान्य विशेष का अन्तर है। व्यवहार और निश्चय नय के भेद—शुद्ध और अशुद्ध निश्चय-नय, सद्भूत तथा असद्भूत व्यवहार नय, एवं उपचरित व्यवहार नय—चित्त में अनेक तरंगें उत्पन्न करते हैं जिनके कारण उसे शान्ति नहीं मिलती परन्तु ये सब पदार्थ के यथार्थ स्वरूप जानने और उसके स्वभाव विभाव को समझने में सहायक रहते हैं अतएव जिस प्रकार भी हो सके—नय, निक्षेप अथवा प्रमाण से—आत्म स्वरूप की पहचान करके सदैव उसके विचार और चितन में व्यस्त रहना चाहिये।

दूसरा अधिकार (अजीवद्वार)—जीव का स्वरूप समझने के लिए अजीव का स्वरूप जानना अधिक आवश्यक है उसी प्रकार जिस

प्रकार हीरे को जानने के लिए काँच का ज्ञान होना। जीव का लक्षण चेतन है और अजीव का अचेतन। अचेतन पाँच प्रकार का है—पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म और काल। इनमें पुद्गल रूपी (इन्द्रिय गोचर) और शेष चार अरूपी हैं। पुद्गल वर्ण, रस आदि सहित मूर्तीक है। इस प्रकार जीव और पुद्गल (अजीव) में भेद है। एक चेतन है तो दूसरा अचेतन, एक अरूपी तो दूसरा रूपी और एक अखण्ड तो दूसरा सखण्ड। संसार में जीव को संसरण करने में पुद्गल ही निमित्त कारण है और पुद्गलों के कारण ही जीव (आत्मा) अनेक प्रकार के राग और मोह में आबद्ध रहता है।

आत्मा (जीव) के अतिरिक्त एक और पदार्थ भी है जो शरीर कहलाता है। यह शरीर जड़ है अचेतन है और आत्म स्वभाव से भिन्न पर-पदार्थ है। शरीर से सम्बन्धित धन, स्त्री और पुत्र आदि को अपना मानना मिथ्या ज्ञान है। लक्षण भेद द्वारा निज आत्मा को 'स्व' और आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब चेतन पदार्थों को 'पर' समझना *प्रज्ञा* है। भेद ज्ञान द्वारा चिदानन्द आत्मा (जीव) और पुद्गल को अलग करके निज स्वरूप में लीन होना चाहिए।

तीसरा अधिकार (कर्ता, कर्म क्रिया द्वार)—अज्ञानी दशा में जीव समझता है मैं सदैव ही अकेला कर्म का कर्ता हूँ दूसरा कोई नहीं; परन्तु हृदय में विवेक होने पर, 'स्व' और 'पर' का भेद समझने और सम्यग्ज्ञान के उदय होने पर उसे पता चलता है कि जीव स्वभाव का कर्ता है और कर्म का अकर्ता। उसे मालूम होता है कि आत्मा कर्म का कर्ता नहीं केवल द्रष्टा मात्र है।

शुभाशुभ कर्म का शुभाशुभ क्रिया को आत्मा का मानना और उन दोनो का कर्ता जीव को ठहराना अज्ञान है। आत्मा तो अपने चिद्भाव कर्म और चैतन्य क्रिया का कर्ता है और पौद्गलिक कर्मों का कर्ता पुद्गल ही है।

चौथा अधिकार (पुन्य-पाप एकत्वद्वार)—जिसका बंध विशुद्ध भावों से होता है वह पुण्य और जिसका बंध संक्लिष्ट भावो से होता है वह पाप है। पाप और पुण्य दोनो मुक्ति मार्ग मे बाधक हैं। एक

लोहे की बेड़ी की तरह है तो दूसरा सोने की बेड़ी की तरह। अतएव दोनों ही हेय हैं और आत्मा के विभाव भाव हैं, स्वभाव नहीं। दोनों पुद्गल-जनित हैं, आत्म-जनित नहीं। इनसे न तो मुक्ति हो सकती है और न केवल ज्ञान प्रकट होता है।

संक्षेप में जितने अंश राग हैं उतने अंश बंध हैं और जितने अंश ज्ञान और निश्चय चारित्र हैं उतने अंश बंध नहीं हैं। इसलिए पुण्य को भी पाप के समान हेय जान कर शुद्धोपयोग की शरण लेनी चाहिए।

पाँचवाँ अधिकार (आस्रव अधिकार) मिथ्यात्व का ही दूसरा नाम आस्रव है। यह दो प्रकार का होता है *भाव-आस्रव* जो राग, द्वेष मोह-मय है और अशुद्ध आत्मा के द्वारा कार्माण वर्गणारूप पुद्गल प्रदेशों का आकर्षित होना *द्रव्य आस्रव* है। सम्यग्ज्ञान इन दोनों प्रकार के आस्रवों से रहित है। सम्यग्दर्शन का उदय होते ही जीव का मौजूदा ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है और सम्यक्त्व के उदय में आस्रव नहीं रहता। आस्रव पुद्गल जनित है आत्मा का निज स्वभाव नहीं ऐसा जान कर ज्ञानी लोग अपने स्वरूप में विश्राम लेते हैं और अखण्ड एवं चिदानन्द रूप सम्यग्दर्शन को निर्मल करते हैं।

छठा अधिकार—(संवर द्वार)—आस्रव का निरोध ही सम्यक्त्व संवर है। जब आत्मा, आत्म अनात्म का भेदविज्ञान अथवा स्वभाव विभाव की पहिचान करता है तो सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है। स्व को 'स्व' और पर को 'पर' जानना इसी का नाम भेद विज्ञान है और इसी को 'स्व-पर विवेक' कहते हैं। भेद-विज्ञान सम्यग्दर्शन का कारण है इसलिए स्वयं हेय होकर भी उपादेय है। अतएव स्वगुण और परगुण को परख करके पर-परिणति से विमुख होना चाहिए और शुद्ध अनुभव का अभ्यास करके समताभाव ग्रहण करना चाहिए।

संवर ही निर्जरा का और अनुक्रम से मोक्ष का कारण है।

सातवाँ अधिकार (निर्जर द्वार)—जो संवर की अवस्था प्राप्त करके आनन्द करता है, जो पूर्व मे बाँधे हुए कर्मों को नष्ट करता है, जो कर्म के फंदे से छूट कर फिर नहीं फँसता—वह निर्जरा भाव है।

जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने आप ही अपने ऊपर जाला पूरता है उसी प्रकार अज्ञानी अपने आप ही शरीर आदि से अहंबुद्धि करके अपने ऊपर अनन्त कर्मों का बंध करते हैं पर ज्ञानी लोग सम्पत्ति में हर्ष नहीं करते, विपत्ति में विषाद नहीं करते। सम्पत्ति और विपत्ति को कर्म जनित जानते हैं इसलिए उन्हें संसार में न कोई पदार्थ सम्पत्ति है और न विपत्ति।

जो ज्ञान के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को समझ लेता है वह अपनी आत्मा को नित्य और निराबाध जानता है और उसके चित्त पर किसी प्रकार का भय नहीं होता। उसका सम्यग्दर्शन निर्मल होता है जिससे अनन्त कर्मों की निर्जरा होती है।

आठवाँ अधिकार (बंध द्वार)—शुभ अशुभ अशुद्धोपयोग ही बंध का कारण है। अशुद्ध उपयोग राग, द्वेष और मोह रूप है। इनका अभाव ही सम्यग्दर्शन है अतः बंध का नाश करने के लिए सम्यग्दर्शन को सँभालना चाहिए। उसके उदय होने पर व्यवहार की तल्लीनता नहीं रहती, निश्चय नय के विषयभूत निर्विकल्प और निरुपाधि आत्माराम का स्वरूप चिंतन होता है और मिथ्यात्व के अधीन रह कर संसारी आत्मा जो अनादि काल से कोल्हू के बैल की तरह संसार में चक्कर काटती है उसे शान्ति मिल जाती है। सम्यग्ज्ञानियों को अपना ईश्वर अपने ही में दिखाई देता है और बन्ध के कारणों का अभाव होने से उन्हे परमेश्वर पद प्राप्त होता है।

नवाँ अधिकार (मोक्ष द्वार)—मोक्ष आत्मा का निज स्वभाव अर्थात् जीव की कर्म-मल रहित अवस्था है। वास्तव मे मोक्ष कभी होता ही नहीं क्योंकि जीव निश्चय नय में बँधा हुआ नहीं है। जो अबंध है उसका फिर छुटकारा कैसा? यह कथन कि 'जीव मोक्ष हुआ' केवल एक व्यवहार मात्र है अन्यथा जीव सदैव मोक्ष रूप है।

मनुष्य दूसरो के धन पर अधिकार करने के कारण अन्यायी कहलाता है और अपनी सम्पत्ति का भोग करने पर न्यायशील। इसी प्रकार जब आत्मा परद्रव्यों में अहंकार करता है तब वह अज्ञानी मिथ्यात्वी होता है परन्तु आध्यात्मिक विद्या का अभ्यास करने पर

जब वह आत्मीक रस का स्वाद लेता है तब प्रमाद को दूर कर तथा पाप पुण्य का भेद हटा कर, केवली भगवान बनता है और थोड़े समय पश्चात् अष्टकर्म रहित और अष्ट गुण सहित सिद्ध पद को प्राप्त होता है।

यही मोक्ष है।

दसवाँ अधिकार (सर्व विशुद्धि द्वार)—मोही जीव पुद्‌गलों के समागम के कारण अपने स्वरूप का आस्वादन नहीं कर पाता। साव-धान हो कर उसे निजात्म अभिरुचि रूप सुमति राधिका से नाता लगाना और पर पदार्थों मे अहंबुद्धि रूप कुमति कुब्जा से विरक्त रहना उचित है। सुमति राधिका शतरंज के खिलाड़ी के समान पुरुषार्थ प्रदान करती है और कुमति कुब्जा चौसर के खिलाड़ी के समान 'पाँसा परै सो दाँव' की नीति से तकदीर का अवलम्बन लेती है।

आत्मा पूर्व कर्म रूप विष-वृक्षों का कर्ता भोक्ता नहीं—इस विचार को दृढ़ रखने से तथा शुद्धात्म पद में लीन रहने से कर्म समूह अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

अतः चिंतन, धर्म ध्यान और मंद कषाय रूप होना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से शान्ति मिलती है और सांसारिक संताप दूर रहते हैं। इसलिए सदा सावधान रह कर इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, परिग्रह संग्रह आदि को अत्यन्त गौण करके निर्भय, निराकुल, निगम, निरभेद आत्मा के अनुभव का अभ्यास करना चाहिए।

ग्यारहवाँ अधिकार (स्याद्वाद अधिकार) जैन मत का मूल सिद्धान्त 'स्याद्वाद अधिकार' कहलाता है। इसमें स्याद्वाद, नय और साध्य साधक अधिकार का वर्णन है। शिष्य और गुरु के प्रश्नोत्तर रूप मे स्व-चतुष्टय तथा पर-चतुष्टय एवं स्याद्वाद के सप्त भंग और एकान्तवादियों के १४ नय-भेदों का वर्णन है।

बारहवाँ अधिकार (साध्य साधक द्वार) साधारणतया जो साधै सो साधक और जिसको साधा जाय वह साध्य होता है। मोक्षमार्ग में आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधक है। केवल इतना भेद है कि ऊँचे की अवस्था साध्य और नीचे की अवस्था साधक है, इसलिए

केवल ज्ञानी अर्हंत सिद्ध पर्याय 'साध्य' और सम्यग्दृष्टि श्रावक, साधु अवस्था में 'साधक' हैं।

तेरहवाँ अधिकार (चतुर्दश गुणस्थानाधिकार) जिस प्रकार एक श्वेत वस्त्र अनेक रंगों के कारण अनेकाकार हो जाता है उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध आत्मा की भी अनादि काल से मोह और योगों का सम्बन्ध होने से उसकी संसारी दशा में अनेक अवस्थायें होती हैं; उनका ही नाम गुणस्थान है। यद्यपि ये अनेक हैं परन्तु १४ प्रमुख हैं। ये गुणस्थान जीव के स्वभाव नहीं हैं पर अजीव में पाये नहीं जाते। जीव ही में होते हैं इसलिए जीव के विभाव हैं। सभी गुणस्थानों में जीव सदेह रहता है, सिद्ध भगवान गुणस्थानों की कल्पना के रहित है इसलिए गुणस्थान जीव के 'निज' स्वरूप नहीं है, 'पर' हैं 'परजनित' हैं। ऐसा जान कर गुणस्थानों के विकल्पों से रहित शुद्ध बुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिए।

अधिकारों के वर्णन के पश्चात् ग्रन्थ समाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति है जो ४० छन्दों में है।

समय-पाहुड़ और समयसार नाटक

हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले बनारसीदासजी के *समयसार नाटक* को या तो कहते हैं—"कुन्दकुन्दाचार्य कृत ग्रन्थ का सार है"[१] अथवा उनका मत है कि यह "कुंदकुंदाचार्य के ग्रन्थ का भाषान्तर है"[२]।

दोनो विद्वान लेखको ने इस संबंध मे भूल की है। मूल ग्रन्थ *समय-पाहुड़* के दो संस्करण अधिक प्रचलित हैं। ब्रह्मचारी शीतल-प्रसाद जी द्वारा संपादित *'श्री समयसार टीका'* जो जैनविजय प्रेस सूरत से वीर संवत् २४४४ में प्रकाशित हुई। यह टीका श्री कुंदकुंदाचार्य कृत प्राकृत गाथा, संस्कृत छाया, सामान्यार्थ, तात्पर्य वृत्त्यनुसार शब्दार्थ सहित विशेषार्थ और भावार्थ सहित है। इसमें ४३७ गाथायें हैं।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६६

२. ब्रजरत्नदास—हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ५३

पुस्तक में *'पीठिका'* के अतिरिक्त जो १५ गाथाओं में सन्निहित है, जीव, अजीव, कर्ता कर्म, पुण्य पाप, आस्रव, संवर, निरजरा, बंध, मोक्ष, मोक्षतत्त्व चूलिका व सर्व विशुद्ध ज्ञान तथा समयसार चूलिका आदि ११ महा अधिकारों का वर्णन है। दूसरा संस्करण सनातन जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित पं० गजाधर लाल जैन द्वारा संपादित *'समय प्राभृत'* है जो बनारस में मुद्रित हुआ था सन् १९१४ में। इस संस्करण में मूल गाथाओं के साथ साथ उनकी *'तात्पर्य वृत्ति'* तथा *'आत्मख्याति'* दोनों टीकायें भी दे दी गई हैं। पहली टीका के कर्ता श्री जयसेन स्वामी माने गए हैं और दूसरी के श्री अमृतचंद्राचार्य। इसमें गाथाओं की संख्या ४४५ है। प्रकरण की दृष्टि से इस संस्करण में पहले वाले से कोई भेद नहीं है।

बनारसीदास कृत *'समयसार नाटक'* की छन्द संख्या ७२९ के लगभग है और जैसा पहले परिचय में बताया जा चुका है उसमें 'उत्थानिका' और 'ग्रन्थसमाप्ति एवं अन्तिम प्रशस्ति' को छोड़ कर १२ अधिकारों का वर्णन है।

यदि शुक्ल जी के अनुसार *समयसार नाटक* कुन्दकुन्दाचार्य कृत ग्रन्थ का सार होता तो दोनों मे यह भेद न रहता। सार, मूल की अपेक्षा विस्तृत न हो कर सूक्ष्म होता परन्तु ऐसा नहीं है। सम्भवतः शुक्लजी से यह गलती समय के साथ 'सार' शब्द के प्रयोग होने के कारण हो गई है और दोनों ग्रन्थों की छानबीन करने के अभाव में उन्होने 'सार' के प्रचलित शब्दार्थ को ले कर अपना मत स्थिर कर लिया है।

बाबू व्रजरत्न दास जी का कथन भी इसी प्रकार सत्य नहीं है। यदि *समयसार नाटक* कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थ का भाषान्तर होता तो दोनों के नाम में इतना भेद न होता। मूल ग्रन्थ का नाम *'समय पाहुड़'* है जो संस्कृत में *'समय प्राभृत'* कहलाता है और विद्वानों में भी प्रायः इसी नाम से प्रचलित है। पहली बात तो विचार करने की यह है कि क्या 'प्राभृत' का पर्याय 'सार' है? दूसरी यह कि मूलनाम के साथ 'नाटक' शब्द का व्यवहार कैसे होने लगा? यदि आलोच्य ग्रन्थ

केवल मूल का भाषान्तर होता तो उसमें 'नाटक' शब्द लगाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। *समय-पाहुड़* में नाटक के सिद्धान्तों अथवा दृश्य, पात्र आदि किसी की आवश्यकता का उल्लेख नहीं है। वह तो सीधा साधा एक धार्मिक ग्रन्थ है जिसमें जीव अजीव आदि के संबंधी तत्त्व ज्ञान का दार्शनिक प्रणाली में विवेचन किया गया है।

इन तर्कों के अतिरिक्त यदि दोनों के विषय और उनके प्रतिपादन पर गंभीरता पूर्वक विचार किया जाय तो भी हिन्दी *समयसार* मूल का भाषान्तर नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए 'जीव अधिकार' प्रकरण को ही ले लीजिए। *पाहुड़* की पहली गाथा इस संबंध में यह है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसम संजुत्तं त सुद्धणयं वियाणीहि।

[जो इस आत्मा को अबद्धस्पष्ट, अनन्य, निश्चल, अविशेष और संयुक्त देखता है उसको शुद्ध नय स्वरूप समझो।]

परन्तु *समय सार नाटक* का पहला छन्द है—

शोभित निज अनुभूति जुत, चिदानंद भगवान।
सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान॥

[वह चिदानन्द भगवान अपने स्वानुभव से शोभित है। सारे पदार्थों में सार रूप पदार्थ आत्मा है और वही सब पदार्थों का जानने वाला है।]

इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी अनेक भेद है। ऐसी दशा में *समयसार* नाटक को कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थ का भाषान्तर मानना भूल है।

सत्य क्या है ?

श्री अमृतचंद्राचार्य ने *समय-पाहुड़* की आत्मख्याति नाम की एक टीका संस्कृत में लिखी है। यह टीका प्रत्येक गाथा पर है परन्तु कहीं कहीं गाथाओं की टीका करने के पश्चात् आचार्य जी ने कुछ उसी विषय के सम्बन्धी श्लोक भी लिख दिये हैं। इन श्लोकों को 'कलशा' कहते हैं। इनकी संख्या काफी है। इन्हीं कलशा के श्लोकों का अनुवाद (सार रूप में) बनारसीदासजी ने किया है। यही अनुवाद *समय सार* नाटक के नाम से प्रसिद्ध और प्रचलित है। इन श्लोको की संख्या इस प्रकार है :—

	अमृतचंद्राचार्यजी कृत कलसा श्लोक	बनारसीदासजी कृत इसी प्रसंग के छन्द
१. जीवद्वार प्रसंग में	३२	३५
२. अजीव द्वार प्रसंग में	१३	१४
३. कर्ता कर्म क्रियाद्वार प्रसंग में	५४	३६
४. पुन्य पाप एकत्व द्वार प्रसंग में	१३	१६
५. आस्रव अधिकार प्रसंग में	१२	१२
६. संवर प्रसंग में	८	११
७. निर्जरा प्रसंग में	३०	६१
८. बंध प्रसंग में	१७	५८
९. मोक्ष प्रसंग में	१३	५३
१०. सर्व विशुद्धि द्वार प्रसंग में	५३	१३९
११. स्याद्वाद प्रसंग में	१७	२९
१२. साध्य साधक द्वार प्रसंग में	१५	५६
१३. चतुर्दश गुणस्थानाधिकार प्रसंग में	+	११५
	२७७	६३५

ऊपर दी गई तालिका से स्पष्ट विदित हो जाता है कि बनारसीदास जी ने अमृतचंद्रार्य की टीका में आये 'कलसा' का भी केवल भावानुवाद ही किया है। कहीं उन्होंने विषय को विस्तार से लिखा है और कहीं संक्षेप में परन्तु सम्पूर्ण प्रसंग मूल से अधिक हैं। इसके अतिरिक्त आलोच्य ग्रन्थ में कुछ ऐसे भी प्रसंग हैं जो न तो *पाहुड़* ही में आये है और न जिनका कोई विवरण *आतमख्याति टीका* ही में मिलता है।

अतएव हम यदि इस परिणाम पर पहुँचें कि शुक्लजी तथा व्रजरत्नदासजी दोनों के मत भ्रमपूर्ण हैं तो अत्युक्ति नहीं है।

समयसार का नाम समयसार नाटक क्यों पड़ा ?

श्री अमृतचंद्राचार्य ने अपनी टीका में नाटक का रूपक बाँधा है। प्रथम अध्याय 'जीवद्वार' के २२वें 'कलसा' में आचार्य ने कहा है—

मज्जन्तु निर्भरमयी सममेव लोका,
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण,
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ।
[इति पूर्वरंगः समाप्तः]

इसी प्रकार अपनी टीका आरम्भ करते हुए तीन 'कलसा' के पश्चात् भी आचार्य की उक्ति है—'अथ सूत्रावतारः वंदित्तु' ।

जीव अजीव अधिकार की व्याख्या के पश्चात् भी ४४वें 'कलसा' के अन्त मे उनका कथन है—'इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ', तथा 'इति समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ प्रथमोङ्कः' ।

तात्पर्यवृत्ति के लेखक ने भी इसी प्रकार लिखा है—

"इति *समयसार*व्याख्यायां..........त्रिशद्गाथाभिरजीवाधिकारः समाप्तः । एवं जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ शृंगारसहितपात्रवद्व्यवहारेणैकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु शृंगाररहितपात्रवत्पृथग्भूत्वा निष्क्रांताविति ।"

[इस प्रकार समयसार व्याख्या का ३० गाथाओं के द्वारा अजीवाधिकार समाप्त हुआ । इस प्रकार जीव और अजीव अधिकार रूप रंगभूमि मे शृंगार किए हुए पात्र के समान व्यवहार नय से एकीरूप करके प्रविष्ट हुए थे सो निश्चय नय से शृङ्गार रहित पात्र के समान अलग-अलग होकर चले गए ।]

ऊपर के इन उदाहरणों से स्पष्ट प्रकट होता है कि यद्यपि कुंदकुंदाचार्य का मूल *पाहुड़* केवल गाथा रूप में एक ज्ञान ग्रन्थ है परन्तु उसके दोनों टीकाकारों ने उसकी व्याख्या नाटक के रूप में की है । यही मुख्य कारण प्रतीत होता है जिसने जनसाधारण में *समय-पाहुड़* को नाटक का नाम और रूप दिला दिया । अन्यथा उसमें नाटक जैसी कोई चीज़ नहीं है ।

बनारसीदास जी ने भी इस सम्बन्ध में एक दो स्थानों पर कुछ उल्लेख किया है । 'अजीवद्वार' के १३वें छन्द में वह कहते हैं—

या घट मे भ्रम रूप अनादि,
विसाल महा अविवेक अखारौ ।
ता महि और स्वरूप न दीसत,
पुग्गल नृत्य करै अति भारौ ।

फेरत भेख दिखावत कौतुक,
सौजि लियें वरनादि पसारौ।
मोह सौं भिन्न जुदौं जड सौं,
चिरमूरति नाटक देखनहारौ॥

[इस शरीर में अनादि काल से भ्रम के कारण एक विशाल महा अज्ञान का अखाड़ा (नाट्यशाला) है। उसमें और कोई स्वरूप नहीं दीखता केवल 'पुद्गल' ही भारी नृत्य करता रहता है। वह अनेक वेष बदलता है (पात्र की तरह) और कौतुक दिखाता है तथा अनेक वर्णों आदि का प्रसार करता है। परन्तु मोह और जड़त्व से भिन्न चिनमूर्ति (सम्यग्दृष्टि आत्मा) इस नाटक का देखने वाला ही है।]

प्रस्तुत छन्द मे पुद्गल को नाटक करने वाला और आत्मा को उसका देखने वाला माना है। एक दूसरे स्थान पर भी जीव (पुद्गल) को नट बताते हुए कवि ने कहा है—

जैसे वट वृक्ष एक, ता में फल हैं अनेक
फल फल बहु बीज, बीज बीज बट है।
बट माँहि फल, फल माँहि बीज, ता में वट
कीजै जो विचार तो अनंतता अघट है।
तैसे एक सत्ता में, अनंत गुन परजाय,
पर्जै में अनन्त नृत्य तामेंऽनंत ठट है।
ठट में अनंत कला, कला में अनंत रूप,
रूप में अनंत सत्ता, ऐसो जीव नट है॥

इन सब उद्धरणों से यही प्रकट होता है कि *समय पाहुड़* की कल्पना लोगों में नाटक के रूप में ही प्रचलित थी।

अतएव श्री अमृतचन्द्राचार्य की *आत्मख्याति* व्याख्या एवं प्रचलित धारणा के आधार पर ही आलोच्य ग्रंथ का यह नाम पड़ा।

एक बात और विचारणीय है। '*पाहुड़*' या '*प्राभृत*' के स्थान पर '*सार*' शब्द का प्रयोग कैसे हुआ ?

कुन्दकुन्दाचार्य ने *समय पाहुड़* के अतिरिक्त '*पंचास्तिकाय*' तथा '*प्रवचन सार*' नामक दो ग्रन्थ और लिखे हैं। जिस प्रकार ऋक्, यजु और साम '*वेदत्रयी*' कहलाते हैं उसी प्रकार जैन सम्प्रदाय में ये तीनों '*सारत्रय*' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी प्रचलित धारणा के आधार पर '*समय-पाहुड़*' भी '*समयसार*' बन गया और

अमृतचंद्राचार्य से लेकर बनारसीदासजी के समय तक तथा अभी तक भी वह इसी नाम से विख्यात चला आ रहा है।

ऐसी स्थिति में इस पुस्तक को नाटक साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

३. प्रबोध-चन्द्रोदय

(ले० का० सन् १६४३ ई०)

यह एक संस्कृत नाटक है जिसके लेखक कृष्ण मिश्र हैं। हिन्दी मे इसके कई अनुवादों का उल्लेख मिलता है।

१. *प्रबोध चन्द्रोदय*—महाराज जसवंतसिहजी (सन् १६२६-१६७८) कृत; जिसका रचना-काल १६४३ ई० के लगभग है।[1]

२. *प्रबोध चन्द्रोदय*—अनाथ दास कृत; इसका रचना-काल सन् १६६९ ई० है।[2]

३. *प्रबोध चन्द्रोदय*—आनन्द कृत; इसका रचना-काल सन् १७८३ है। नाम 'नाटकानन्द' रखा है।[3]

४. *प्रबोध चन्द्रोदय*—जन अनन्य कृत; इसके रचना-काल का पता नहीं चलता।[4]

५. *प्रबोध चन्द्रोदय*—सुरति मिश्र कृत; इसका रचना-काल सन् १७०३-४३ के लगभग है।[5]

६. *प्रबोध चन्द्रोदय*—व्रजवासीदास कृत; इसका रचना-काल सन् १७५९ है।[6]

उपरोक्त अनुवादों अथवा रूपान्तरों में से तीन अधिक प्रसिद्ध हैं—महाराज जसवंतसिहजी कृत, अनाथदास कृत और व्रजवासी-

---

१. हिंदी नाट्य साहित्य—व्रजरत्नदास कृत, पृ० ५५
२. वही, पृ० ५५
३. वही, पृ० ५६
४. वही, पृ० ५६
५. वही, पृ० ५५
६. वही, पृ० ५६

दास कृत। शेष तीनों में से सुरति मिश्र के अनुवाद के सम्बन्ध में बा० ब्रजरत्नदास का कहना है—*प्रबोध चंद्रोदय* नाटक का इनका अनुवाद नाटक रूप में न होकर काव्य रूप में हुआ है। आरम्भ में केवल ६ दोहे हैं तथा पूरा नाटक २८४ ककुभा छंदो में अनूदित है। गद्य का नाम भी नही है पर कविता बहुत अच्छी है'।

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इनका कोई उल्लेख नहीं किया।

आनन्द कृत अनुवाद के विषय में भी बाबू साहब का कहना है—"आनन्द ने दोहे चौपाई में इसका अनुवाद किया। यह काशी निवासी थे और अपने अनुवाद का नाम स्वनाम पर '*नाटकानन्द*' रखा था। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार ज्ञात होता है। यह कृष्ण भक्त वैष्णव थे।"

अनन्यकृत अनुवाद के संवंध में उपरोक्त लेखक का यही उल्लेख है—"जन अनन्य कृत एक अनुवाद का और भी पता चलता है।"

ब्रजवासीदास कृत अनुवाद बहुत प्रसिद्ध है और बाबू साहब इसके लिए यही कहते हैं—"यह अनुवाद भी दोहो में ही अधिकतर है और कविता अच्छी है।"

यद्यपि ये ग्रन्थ प्रस्तुत पुस्तक के लेखक की दृष्टि से नहीं निकले परन्तु उल्लेखों के आधार पर यह परिणाम अवश्य निकाला जा सकता है कि उक्त अनुवाद वास्तव में अनुवाद नहीं हैं। मूल संस्कृत नाटक के केवल काव्यमय रूपान्तर हैं और इसलिए 'नाटक साहित्य' के अन्तर्गत उनकी गणना नहीं हो सकती।

अनाथदास कृत एक अनुवाद सन् १८८३ ई० में नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुआ है परन्तु उसके मुखपृष्ठ के ऊपर जो उल्लेख है और अन्दर जो लिखा है उनमें कुछ भेद होने के कारण किसी निश्चित मत-निर्धारण में द्विधा उत्पन्न हो जाती है।

मुख पृष्ठ पर लिखा है—

"प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक
प्रसिद्ध नाटक संस्कृत जिसमें महाविवेक और महामोह की लड़ाई में
महाविवेक के जय पाने का वर्णन है।
जिसका उल्था बृजवासीदास महात्मा का नाटक ब्रजभाषा की
अनेक छंदों में प्रसिद्ध और मशहूर है,

उसके सिवाय साधारण बोली में एक तर्जुमा संस्कृत का गुरुमुखी बोली में
बनाया गया जिसको महात्मा अनाथदास कवि ने बड़ा परिश्रम
करके उल्था किया था,
वही, महात्मा आत्माराम परमहंस जी के द्वारा सरल दे. (? देसी भाषा)
के दोहों में संपूर्ण लोगों के उपकारार्थ,
लखनऊ नवलकिशोर के छापेखाने में अक्तूबर सन् १८८३ ई० ।"

इससे यह पता चलता है कि महात्मा अनाथदासकृत अनुवाद गुरुमुखी बोली में हैं और नवल किशोर प्रेस से जो पुस्तक प्रकाशित हुई है वह उक्त पुस्तक का सरल देसी भाषा के दोहों में रूपान्तर है जिसके लेखक परमहंस महात्मा आत्माराम जी हैं ।

परन्तु पुस्तक के अन्दर पढ़ने से मालूम होता है कि प्रस्तुत पुस्तक अनाथदासकृत भी है क्योंकि १५वें अध्याय के अन्त में आता है—"अनाथदासकृते दुविधा निवारण" जिससे स्पष्ट यही परिणाम निकलता है कि कम से कम उक्त अध्याय अनाथदास का बनाया हुआ है । पुस्तक के अन्त में भी पुस्तक का १२ दिनों में समाप्त होना और अवध-नरेश की कृपा से अनाथ द्वारा वर्णन—आदि उल्लेख हैं । इससे भी यही प्रतीत होता है कि पुस्तक के मूल लेखक अनाथ दास जी हैं ।

रचना काल के विषय में पुस्तक में स्पष्ट लिखा है—

"संवत सत्रह सौ गये षट् विंशति निरधार ।
आश्विन मास रचना रची सारासार विचार ॥"

परिचय

पुस्तक के आरंभ में लेखक का स्पष्टीकरण है जो उसकी भूमिका मालूम होती है ।

बोध चन्द्र के उदय को, नाटक सरस सुग्रन्थ ।
तेहि छाया भाषा करी, प्रकट मुक्ति को पन्थ ॥
सब ग्रन्थन कौ अर्थ लै, कहौं ग्रन्थ अभिराम ।
सत गुरु पद शिर नाय कै, वर्णों तिनके नाम ॥
कछुक रीति वासिष्ट की, कछु गीता की उक्ति ।
कछु कछु अष्टावक्र पुनि, कहौं वेद की उक्ति ॥

कहौं भागवत को मतो, कहौं सन्त अनुमान।
सुलभ किए सब जगत को, जानो सन्त सुजान ॥
कहुँ भारत कहुँ सांख्यमत, कहुँ अपनो अनुमान।
सुलभ किए सब नरन को, जानो जान अजान ॥
... ...
... ...

नव रस हैं या ग्रन्थ मों, प्रथम कहौं तिन नाम।
पर यह सन्तन आदरै, शान्त राशि निष्काम ॥
प्रथम श्रृंगार, हास्य पुनि, करुणा रौद्र बखान।
वीर विभत्स भयानका, शांतऽद्भुत परमान ॥
सब रस हैं यह ग्रन्थ मौं, अल्प अल्प विस्तार।
शान्त सरस रस मों भरयो, आदि अन्त निर्द्धार ॥
अज्ञहिं प्रति उपदेश नहिं, तज्ञहिं नहिं भ्रमलेश।
जिज्ञासी प्रति गुरु कह्यो, सर्वसार उपदेश ॥
जिज्ञासा शिष्य के भई, गह्यो शरण गुरु आय।
जोरि पानि ठाढ़ो भयो, सादर शीश नवाय ॥

इसके पश्चात् कथा आरम्भ हो जाती है। पुस्तक में कुल मिला कर २५ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में शिष्य एक समस्या को लेकर प्रश्न करता है और फिर गुरु उसका उत्तर देते हैं।

अतएव पुस्तक में गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में निम्न प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया है—

१ अध्याय विवेक आनन्द और दुख की उत्पत्ति।
२ अध्याय प्रवृत्ति परिवार वर्णन।
३ अध्याय निवृत्ति परिवार वर्णन।
४ अध्याय मनसिज मन भ्रमण।
५ अध्याय वस्तु विचार काम युद्ध वर्णन।
६ अध्याय धैर्य, क्रोध, क्षमा संवाद वर्णन।
७ अध्याय लोभ सन्तोष युद्ध वर्णन।
८ अध्याय दम्भ सत्य युद्ध वर्णन।
९ अध्याय गर्व शील संवाद।
१० अध्याय धर्माधर्म संवाद।

११	अध्याय	न्याय कुन्याय युद्ध।
१२	अध्याय	मोह सेना वर्णन।
१३	अध्याय	नृप विवेक सेना वर्णन।
१४	अध्याय	मोह विवेक युद्ध वर्णन।
१५	अध्याय	अनाथदास कृते दुविधा निवारण।
१६	अध्याय	वाणी वैराग मन संवाद।
१७	अध्याय	वेद वाणी मन संवाद।
१८	अध्याय	श्रवण मनन निज ध्यासन वर्णन।
१९	अध्याय	परोक्षापक्ष बन्ध मुक्ति वर्णन।
२०	अध्याय	परोक्ष अपरोक्ष की कथा।
२१, २२, २३	अध्याय	तत्पद और मोपद का भेद; उपनिषद् देवी मन संवादे असपद निरूपण।
२४	अध्याय	बोधप्राप्ति।
२५	अध्याय	अनाथदास जी का वर्णन; कौन थे और क्या थे ? ग्रन्थ समाप्ति आदि।

उक्त पुस्तक भी संस्कृत नाटक का अनुवाद नहीं है। उसके कथासार पर निर्मित एक स्वतंत्र संवाद है जो व्रजभाषा में लिखा गया है। सम्भवतः संवाद तत्त्व के होने के कारण और मूल पुस्तक के नाटक कहलाने के कारण इस काव्य-संवाद का नाम भी 'नाटक' रख दिया है जो भ्रमात्मक है।

नवलकिशोर प्रेस ने सन् १८९३-९४ में एक और प्रबोध चन्द्रोदय नाटक प्रकाशित किया। इसके लेखक गढ़ा कोटा सागर निवासी पं० भूदेव दुबे हैं। इसमे

"नाटक की रीति पर नट और नटी, काम और रति, विवेक और सुमति, दम्भ दम्भ-शिष्य अहंकार, मोह चारवाक, अज्ञान क्रोध, लोभ तृष्णा, हिंसा भरमावती मिथ्या—इनमे परस्पर अनेकानेक चित्र विचित्र वार्ता हुई है उसका वर्णन है।"

पुस्तक गद्य में लिखी गई है। आरम्भ का वार्तालाप इस प्रकार है :—

नट—(भुजा उठा कर कहता है) अहो समस्त तंत्रीगण हो किंचित समय पर्यन्त यंत्रों को मौन करके श्रवण करो (फिर निज स्त्री से कहता है) हे मृगनैनी कोकिलबैनी मेरी प्रिया आज महान सुखदायक एक अद्‌भुत आकाशवाणी हुई है जिसके श्रवण करते ही मेरे शिर पर से अभिमान का भार गिर गया जिससे अब मैं पाँव फैला कर सुखपूर्वक सोता हूँ—

नटी—(हँस कर) अहो प्राणपति प्रीतम कहिये वह वाणी किसने कही और उसमें क्या कहा।

पुस्तक के दो भाग हैं और दो ही अंक। नाटक के मुख्य पात्रों का संकेत दोनों अंकों के आरम्भ में कर दिया है। और 'प्रवेश', 'प्रस्थान' आदि का भी यथास्थान उल्लेख है।

परन्तु यह अनुवाद नहीं है और न रूपान्तर ही है। जिस प्रकार आत्माराम जी का *प्रबोध चन्द्रोदय* नाटक छन्दबद्ध-संवाद है उसी प्रकार यह गद्य संवाद है।" इसमें नाटक प्रणाली का अवलंबन अधिक किया गया है ?

महाराज जसवंतसिंह जी कृत अनुवाद

मूल संस्कृत नाटक में ६ अङ्क हैं जिनका कार्य-व्यापार विवरण इस प्रकार है—

पहला अङ्क—आरम्भ 'नान्दी' पाठ से होता है, उसके बाद 'प्रस्तावना' होती है जिसमें सूत्रधार और नटी, नाट्यशास्त्र परम्परा के अनुसार, नाटक का मूल उद्देश्य दर्शक-मण्डली के सम्मुख उपस्थित करते हैं। तत्पश्चात् काम और रति का वार्तालाप है जो आगे होने वाले कार्य व्यापार की भूमिका को स्पष्ट कर देता है और उनके प्रस्थान पर नाटक का नायक विवेक अपनी पत्नी मति सहित प्रवेश करता है।

इस अङ्क की समाप्ति दोनों के प्रस्थान पर हो जाती है।

दूसरा अङ्क—आरम्भ प्रवेश से होता है जिसमें तीन पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान वर्णित है—ये दम्भ, अहंकार और शिष्य हैं। इनके प्रस्थान पर पहले महामोह प्रवेश करता है और तत्पश्चात् चार्वाक रंगमंच पर आते हैं। पहले गुरु शिष्य में वार्तालाप होता है फिर

महामोह भी उसमें सम्मिलित हो जाता है। दौवारिक आकर उत्कल से आने वाले एक पुरुष के आगमन की सूचना देता है और स्वामी की आज्ञानुसार उसे अन्दर ले आता है। उससे अपना परिचय पूछता है और महामोह के कहने से चार्वाक प्रस्थान कर जाते हैं। पत्र पढ़ता है और क्रोध भाव दिखाने के पश्चात् 'पुरुष' को विदा कर देता है और क्रोध तथा लोभ को बुलाने की आज्ञा देता है। दोनों आते हैं। फिर यथासमय लोभ-पत्नी हिंसा और क्रोध-पत्नी तृष्णा का भी प्रवेश होता है। बाद को महामोह को छोड़ कर सब चले जाते हैं। महामोह पार्श्व में देखकर अपनी पत्नी मिथ्यादृष्टि की सखी विभ्रमावती से स्वामिनी को बुलाने के लिए कहता है। दोनों में वार्तालाप होता है और दोनो के प्रस्थान के पश्चात् नाटक के दूसरे अंक की समाप्ति होती है।

तीसरा अङ्क—इस अङ्क का नाम पाखण्ड-विडम्बना है। आरंभ में विवेक-भगिनी शान्ति और उसकी सखी करुणा रंगमंच पर प्रवेश करती हैं। उनके वार्तालाप के मध्य में (क्षपणक) दिगम्बर सिद्धान्त, श्रद्धा, बुद्धागम (भिक्षु), कापालिक रूपधारी सोम सिद्धान्त आदि आते हैं और अपने अपने अनुरूप व्यवहार कर प्रस्थान करते हैं।

चौथा अङ्क—इस अङ्क का नाम विवेकोद्योग है। श्रद्धा की सखी मैत्री के प्रवेश से इसका आरंभ होता है फिर श्रद्धा और मैत्री दोनों की बात होती है। यह 'विष्कम्भक' है। इसकी समाप्ति पर राजा विवेक और प्रतिहारी प्रवेश करते हैं। तत्पश्चात् विवेक-किंकर वस्तु विचार और विवेक-दासी क्षमा का आगमन होता है। क्षमा बाद को चली जाती है और लोभ-विजेता सत्सहचर सन्तोष प्रवेश करता है। थोड़ी देर बाद वह भी चला जाता है। तत्पश्चात् पुरुष का आगमन होता है और शीघ्र ही प्रस्थान भी हो जाता है। और राजा के सारथी के साथ जाने पर अङ्क समाप्त होता है।

पाँचवाँ अङ्क—इस अङ्क का नाम वैराग्य प्रादुर्भाव भी है। इसका आरंभ 'प्रवेशक' द्वारा श्रद्धा, विष्णु-भक्ति और शान्ति के प्रवेश तथा प्रस्थान से होता है। इसके पश्चात् मन, संकल्प, सरस्वती और वैराग्य

का वार्तालाप वर्णित है। अन्त सब के प्रस्थान में होता है।

छठा अङ्क—इस अङ्क का नाम जीवन-मुक्ति है। आरम्भ वही 'प्रवेशक' से होता है जिसमें शान्ति और श्रद्धा का वार्तालाप दिखाया गया है। बाद को पुरुष, उपनिषद, शान्ति, विवेक, श्रद्धा, निदिध्यासन, प्रबोधोदय, विष्णुभक्ति पात्रों में संवाद होने पर यह अङ्क समाप्त हो जाता है और अन्त होता है 'भरत-वाक्य' से।

संक्षेप में कथा यही है कि नायक महाविवेक की प्रतिनायक महामोह पर विजय होती है। घटनास्थल काशी धाम है। सब अपने अपने हथकंडों से काम लेते हैं।

सब पात्रों को संकेत रूप में सजीव करके नाटक का रूप दिया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से सारे नियमों का पालन इसमें मिलता है।

जसवंतसिंह जी का अनुवाद सार मात्र है। प्रस्तुत अंश से इसका प्रमाण मिल सकेगा। यह धारणा कि महाराज ने अक्षरशः अनुवाद किया था, निराधार है। अन्य अनुवादों की तरह यह भी मूल की छाया को ले कर लिखा गया है।

हिन्दी का सबसे प्रथम नाटक यही अनुवाद है।

४. करुणाभरण

(ले० का० सन् १६१७—१६५९ ई०)

इस नाटक के प्रणेता कृष्ण जीवन लछीराम हैं। इनके समय के विषय में बा० ब्रजरत्नदास ने कोई उल्लेख नहीं किया, केवल वह संवत् दे दिया है जिसकी लिखी हुई *करुणाभरण* नाटक की प्रति उन्हें प्राप्त हुई।

करुणाभरण नाटक के अन्त में कवि ने लिखा है—

सों कवीन्द्र सरसती रिझाए। गाए वचन वेद के गाए॥
जब कवीन्द्र सों लई परिष्या। तब जानी सतगुरु की शिष्या॥

इससे प्रतीत होता है कि लेखक कवीन्द्राचार्य सरस्वती के शिष्य थे। कवीन्द्राचार्य सरस्वती सम्राट शाहजहाँ के समकालीन थे।

अतएव कवि कृष्णजीवन का उसी काल में होना आवश्यक है। इस दृष्टि से उनका समय सन् १६१७–१६५९ के लगभग होना चाहिए।

प्रस्तुत विवरण उदयपुर राज्य के सरस्वती भंडार में सुरक्षित *करुणाभरण* की हस्तलिखित प्रति की प्रामाणिक प्रतिलिपि के आधार पर दिया जा रहा है। यह प्रति सन् १७१५ की लिखी हुई है। लिपिकार के शब्दों में—

"महाराजाधिराज महाराणा श्री सग्रामसिंह जी लिखाविता ।। भट्ट कृष्णदासेन लिखिता ।। संवत १७७२ विर्षे कार्तिकवदि कृष्ण ५ गुरुवारे ।। शिवमस्तु सर्वजगतां ।।

करुणाभरण नाटक सात अंकों मे विभाजित है जिसका परिचय इस प्रकार है :—

पहला अङ्क—इस का नाम 'राधा-अवस्था' अंक है और इसमें ४० छन्द हैं। आरंभ में कवि ने रसिकों, भक्तों, पंडितों और कवियों के आशीर्वाद की इच्छा प्रकट की है और कहा है—

प्रेम वढ़े मन निपट ही, अरु आवे अति रोइ।
करुना अरु सिंगार रस, जहाँ वहुत करि होइ।
लछीराम नाटक करयो, दीनो गुननि पटाइ।
भेष रेष निर्तन निपुन, लाए नरनि सधाइ ।।
सुरद मंडली जोर तहाँ, कीनो वड़ो समाजु।
जो उनि नाच्यो सो कह्यो, कविता मे सुख साजु ।।

अतएव स्पष्ट है कि लेखक का उद्देश्य करुण और शृंगार रस का नाटक लिखना है। वह अपनी कृति ऐसों के लिए लिख रहा है जो वेषभूषा और नृत्य में निपुण हों और अच्छे स्वर में गाने वाले हों।

इसके पश्चात् कथा आरंभ होती है।

सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र जाने की वात उठी। द्वारिका के 'जदुराय' श्रीकृष्ण ने अपने सव अधिकारियों को वहाँ जाने के लिए व्यवस्था करने की आज्ञा दे दी। आज्ञा पाते ही हाथी, घोड़े, पैदल, ऊँट, खच्चर, अम्वारी, पालकी, डोली, वाहिनी, कटक सव के सव वड़े ठाठ वाट से चल दिए और अनेक राजों सहित कुरुक्षेत्र पहुँच गए।

वहीं पर नंद, वृषभानु, गोप और गोपी आदि व्रजवासी भी

स्नान के लिए आए।

एक ग्वाला तब तमाशा देखने के लिए गया और चौराहे पर जाकर खड़ा होगया। अजीब उसकी वेषभूषा थी—सिर पर फेंटा, हाथ में लुटिया और कंधे पर कमरी, शरीर में तनिया (बंडी) और गले में गहरे रंग की गुंजों की माला। सब को देखकर इस ग्वाले ने एक जादो से पूछा 'इस तरह बने बनाए तुम किसके साथ हो?' उत्तर मिला "द्वारिकानाथ के साथ—द्वारिका नगरी परम सुन्दर है और तीन लोकों में उसे पवित्र कहा गया है और यह सारी सेना वहीं से आई है।" इस पर ग्वाल कहने लगा—

इकु गुइयाँ मेरो तहाँ गयो, जाइ द्वारिका राजा भयो ॥

और जब उसने कृष्ण का नाम लिया तो जादो ने हँसी रोक कर कहा "मैं जानता हूँ तुम व्रजवासी हो।" इस पर ग्वाले ने उन्हें यह समाचार दिया "महर भी आए हैं साथ में सब व्रजवासी हैं; नन्द, यशोदा, वृषभानु, राधा, गोपी सब कुरुक्षेत्र आए हैं।" यह सुनकर जादो कहने लगा—"यह सारा लश्कर तुम्हारे उसी मित्र का है जिसने मक्खन चुराया था।" और यह कहकर वह गद्‌गद हो गया। ग्वाला वहाँ से एक दम अपनी टोली में गया और उन्हें समाचार दिया—"ए जातभाइयो! गोपाल आए हैं।" इस समाचार के सुनते ही सब सुखी हो गए मानो सूखे धान पर वर्षा हो गई हो। किसी ने समाचार पर विश्वास किया किसी ने नहीं, कोई कोई एक दूसरे को खींचकर हाथ पकड़कर आनन्द से नाचने लगे। कुछ व्रजवासी अपना खाना पीना सब भूल गये; नन्द यशोदा फूले न समाये और कहने लगे—"जिन शकुनों को लेकर हम घर से चले थे उनसे अच्छे शकुन और हो ही नहीं सकते थे। मैं दौड़ कर जाऊँ और ढूँढूँ वह नृपति कन्हाई कहाँ है। पर ग्वाल-ग्वालिनों को अब वह क्या मानता होगा, उनका ठौर ठिकाना भूल गया होगा। हमारे शरीर की ओर देखने में भी उसे लज्जा आवेगी क्योंकि वह तो महाराज गरीबनिवाज हो गये हैं। नाम भी श्री जदुनन्दन हो गया है; दरबार में राजाओं की भीड़ लगी रहती है; वहाँ तो राजाओं को भी छड़ी की मार खानी पड़ती है। राजा

भी दरबार में जाने नहीं पाते फिर हम गँवार वहाँ कैसे जा पावेंगे ?"

श्रीकृष्ण का नाम सुनकर और उनके आने का समाचार जानकर सब व्रजवासी आबाल-वृद्ध इतने प्रसन्न हुए कि अपने को सँभालना कठिन हो गया।

एक ग्वाले ने जाकर यह सारी कहानी लाज की मारी राधा से कही। वह तो स्वयं कृष्णमय थी। फिर भी व्याकुलता के कारण कभी उसका शरीर सफेद हो जाता था और कभी लाल। कभी मिलन की आशा से सुख मिल जाता था और कभी फिर उदास हो जाती थी। कभी नीची दृष्टि करके श्याम का ध्यान करती और उलटी साँस चलने लगती और कभी कहती—

कित यों कान्ह करो ठकुराई।
प्रीति प्रतीति न मनते जाई ॥२२॥

जब श्रीकृष्ण के राजसी ठाठ बाट सहित सिंहासन पर बैठने की बात सुनती तो फिर उसे वही ध्यान आ जाता जब वह व्रज में गुञ्जमाला माँगते फिरते थे। इन सबसे राधा का कृष्ण में प्रेम बढ़ना ही जाता; उसका दृढ़ विश्वास था—

मोहि भरोसो श्याम को, मो मिल मेरो होइ ॥२५॥

अथवा—

नेह कनावड़ि रहत है, बालमित्त सों नित्त ॥२६॥

वह तो कहती—

मुकता मानिक कनक पट, अमल अमोलिक आदि।
पै वह लोहो चोंप सों, चिपटे चुम्बक चाहि ॥२६॥

और कृष्ण की मस्ती में मस्त रहती।

यही राधा की अवस्था थी।

दूसरा अंक—इसका नाम व्रजवासी अवस्था है। इसमें २७ छन्द हैं।

आरंभ में गोपियों की विरहाकुल अवस्था का संक्षिप्त वर्णन है। फिर चन्द्रावली, ललिता, विसाखा, मधुमती, सुमाज्ञा आदि का उल्लेख है। तत्पश्चात् रेता, पेता, मनसुखा, श्रीदामा, रतसा, नेसा,

चपट्टुवा, झपट्टुवा आदि गोप ग्वालों के आनन्द का वर्णन है। उनके परस्पर सुझाव में यह प्रस्ताव होता है कि—

ब्रज को हरिहि पकरि ले चलें, एसी करो आहि तो भले।
कुकहि गरे पकरि के झूलहि, कूदहिं, ठेलहिं, खेलहि, फूलहिं ॥

इस पर एक ग्वाला कहता है कि कृष्ण को द्वारिका जाने दो; तो दूसरा कहता है—

.........हो लेहुँ दाउ, कहा भयो ह्वे आयो राउ ॥
एक कहे आवन तो देहु। तब तुम दाँव खेल के लेहु ॥

कृष्ण के संबंध में यह सब सुनकर गायों के भी कान खड़े हो जाते हैं और वे भी अपनी विकलता प्रकट करती हुई दिखाई देती हैं। यही नहीं गायें

मन में कहति कहाँ वह प्यारो। बन बन मही चरावन हारो ॥

और ऐसी अवस्था में जब उनके बछड़े दूध पीने का यत्न करते हैं तो गायें उनके लातें लगाती हैं जिस पर बछड़े अपनी माताओं से पूछते हैं 'तुम्हें क्या हो गया है अम्माँ !'

इसके बाद लेखक ने काजर, पीयर, रातर, धोरी, महुवरि, धूमरि, हांसुल, मोहिनी आदि गायों के नाम गिनाये हैं और एक जादव (द्वारिकावासी) के हाथ यह समाचार हरि के पास कहला दिया है।

अन्त में लेखक कहता है—

ब्रजजन में जित तित खरभरी। धनि धनि कहतु आज की घरी ॥
जा बिनु हम सब रीते भये। अकस्मात आइ ते गये ॥

और अंक समाप्त हो जाता है।

तीसरा अंक—इसका नाम सत्यभामा अवस्था है और इसमें ४१ छन्द हैं।

अंक का आरंभ पहले अंक वाले जादव के कृष्ण के दरबान के पास पहुँचने पर होता है। जाकर उसने दरबान से कहा 'हरि सो कहो खबर ए सही।' यह समाचार सुनते ही कि नंद यशोदा आदि कुरुक्षेत्र आये हैं कृष्ण को पुराने दिनों की याद आ गई और उनके नेत्र जल से परिपूर्ण हो गए, पुरातन प्रेम की सारी बातें एक एक कर

उनके स्मृति-पथ में दौड़ गईं और हरि उन्हें याद कर आनन्द से विभोर हो गए।

ऐसी अवस्था में ही सबसे पहले देवकी माता अपने पुत्र से मिलीं। मिलन-आनन्द के कारण कृष्ण की आँखों से जल बहने लगा। देवकी ने समझाया पुत्र क्यों रोते हो तुम तो सब संसार के दुख दूर करने वाले हो। फिर वसुदेव मिले। बातचीत हुई जिसको सुनकर रुक्मणी आदि रानियाँ बड़ी प्रसन्न हुईं और व्रजवासियों के दर्शन पाने के लिए अपने को धन्य कहने लगीं। सत्यभामा भी वहाँ आई और सब समाचार सुन मुसकराने लगीं—

बाल मित्र सब व्रज के आए, अरु व्रषभान राधकहि ल्याए ॥३७॥
अब बुलाइ किन कीजे सेवा, मिलि बैठो तुम तेई तेवा॥
आजु हमें किन रास दिखावहु, वे व्रजवारे वेष बनावहु ॥३८॥
मुगतमाल मनिमाल उतारहु, गुंजपुंज मोरग उर धारहु॥
... ... ॥३६॥
मोडर का वुटियारो पहिरो, पीतांबर जामे रँग गहिरो॥
नाचहु गावहु कूदहु खेलहु, वैसे ही ग्रीवन बाँह मेलहु ॥४०॥

ये सब बातें सुनकर कृष्ण मुसकरा दिए; परन्तु

मन मन रीझें खीझें हँसे, ते सब सुन्दरि के मन बसे ॥४१॥

चौथा अंक—इस अंक का नाम राधा अवस्था है और इसमें ४७ छन्द हैं।

कथा का आरम्भ होता है द्वारिका शिविर को छोड़कर कृष्ण के उस स्थान को प्रयाण करने से जहाँ पर नंद, यशोदा आदि ठहरे थे। कृष्ण के आने का समाचार सुनकर ऐसे गद्गद हो गए कि,

फूले निपट पहिरत नहि बने, इक इक सूथन द्वे द्वे जने ॥४॥

यशोदा ने दूर से श्याम को आता हुआ देखा और कहने लगी—

हुँ वारी जाउँ या आवन ऊपर, मोते सुखी कोन या भू पर ॥६॥

अपने बीच में कृष्ण को पाकर ग्वालों की जो दशा हुई उसका वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है—

एक जुरे एक पाइन परे, एक निसंक अंक ले भरे॥
इक पाछे इक तिरछें भेटे, इक सुधि करत खेल की हेटें ॥८॥

इक मनिमाल गले तें लेहे, गुंजमाल तब बदलें देहे ॥
मुक्तमाल सो मन नहि मानत, गुंजमाल अमोलक जानत ॥६॥

... ...

रीझि रीझि जदुबंसी परे, दुख सुख अजरि जहाँ सिनमरे ॥
कूकत कूदत उछरत फूलत, रोवत हँसत गरो गहि झूलत ॥११॥

तत्पश्चात् श्रीकृष्ण यशोदा मैय्या से मिले, फिर नंद बाबा से और बाद मे अन्य गोपियों से। अनेक छन्दों में इस प्रसंग के अन्तर्गत लेखक ने सब के आनन्द का बड़ा सजीव चित्र खींचा है।

अन्त में श्रीकृष्ण ने एक नारी-समूह में राधा को देखा—

राधा विरह तपन की ताई। कंपत चंपत हरि ढिग आई ॥३८॥
नैनन ते तातो जल परे। घूँघट भीतर तटकी मरें ॥
ते अँसुआ हरि पग पर परे। मनो अगनि की चिनगन झरे ॥३९॥
हरि मन कही कोन यह आहि। इति तपति तन व्यापे जाँहि ॥
छुवे छुवे द्दग सीतल पानी। इन लछिन तब राधा जानी ॥४०॥

उस समय राधा की अवस्था का वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है—

पायन परी उठी बिललाइ। दुरि दुरि पग की लेइ बलाई ॥४१॥

... ...

जानि स्यामघन अंतर जामिनि। सोले सहस भुलाई कामिनी ॥
हरि अपने मन निहचे जानी। श्री राधा रानिन की रानी ॥४३॥

राधा अपने को सँभाल न सकी। दौड़कर वापिस चली आई। सखियाँ जैसे तैसे फिर उसे वापिस ले गई परन्तु वहाँ जाते ही वह तो मूर्च्छित हो गई। जब होश आया तो सखियाँ उलहना देने लगीं।

पाँचवाँ अंक—इस अंक का नाम राधा मिलन है और इसमें ७६ छन्द हैं।

राधा की कुछ दशा सुधरी और बलदाऊजी अनेक प्रकार के वाहन लेकर वहाँ पर आये। कृष्ण और बलराम का मिलाप हुआ, गाढ़ालिंगन हुआ। तत्पश्चात् सब गोपों से भेंट हुई।

सब को मन सब भाँतिन राख्यो। सब मन मान्यो हरि रस चाख्यो ॥
नन्द जसोमति विनती करें। अब ते हम ह्याँ तें नहि टरें ॥३॥

फिर गायों का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने भी अपनी दशा से

कृष्ण-विरह का प्रदर्शन किया। कृष्ण ने उनकी पीठ पर हाथ फेरा।

द्वारावती के लोगों को यह सब देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। बलदाऊ और कृष्ण ने फिर सवारियाँ मँगाईं और सब को लेकर अपने महल की ओर चल दिए। वहाँ पर फिर ब्रजवासियों में आपस में आनन्द चर्चा हुई। वसुदेवजी ने विशेष रूप से नन्द और यशोदा के उपकारों का वर्णन किया। श्याम और राधा की फिर भेंट हुई। कृष्ण ने अपनी रानियों से यशोदा सास के पैर छूने के लिए कहा। इसके उपरान्त रुक्मणी कहने लगीं—

हो करिहों मेरे मन आई, राधा प्यारी की पहुनाई ॥२६॥

कृष्ण ने आज्ञा दे दी। रुक्मणी बाँह पकड़ कर राधा को अन्दर ले गई; वहाँ पर राधा का बड़ा आदर किया। थोड़ी सी देर बाद कृष्ण भी पहुँच गए। सब ने राधा के दर्शन कराने के लिए उन्हें धन्यवाद दिया। सत्यभामा भी वहाँ पहुँचीं। राधा के रूप की झलक मात्र से अचंभित हो गईं। फिर कृष्ण ने राधा का घूँघट खुलवा दिया और उसके रूप लावण्य के सामने सारी रानियाँ अपना गर्व गँवा बैठीं। सत्यभामा राधा के निकट पहुँची और जब हाथ से ठोढ़ी ऊपर की तो देखा उसका सारा शरीर श्याम की गन्ध से महक रहा था। मोहन ने सारे संसार की छवि ही उसे प्रदान कर दी थी। 'ब्रज के इस टोना' को देखकर सब स्तंभित हो गईं। कृष्ण कहने लगे—

एक टोना या है जग माँही। मुह बसि करयो जु चाहे कोही ॥
नीके राधहि सेवो सोई। ताके अटल भक्ति तब होई ॥४५॥

रुक्मणी ने अनेक प्रकार के वस्त्र लाकर राधा के सामने रखे और अपने हाथ से उसकी वेषभूषा की। सत्यभामा को यह सब पसन्द न आया। फिर भोजन कराया गया। तरह तरह के व्यंजन स्वयं रुक्मणी ने अपने हाथ से खिलाए। रात्रि का समय हो गया, सब अपने अपने महल में चली गईं। राधा को नींद न आई। उसे दूध पीने की आदत थी और राजसी ठाठ बाट में यह सब कहाँ? अन्त में कृष्ण को कहना ही पड़ा—

जब वाके सोवे की बेर। माई करे मेवन के ढेर।
पै राधाहि नींद तब आवे। जब वह दूध पियन को पावे ॥५७॥

रुक्मणी यह सुनकर उठीं और सोने के कटोरे में दूध लाकर राधा को पिलाया, परन्तु दूध गरम था। राधा ने कुछ न कहा परन्तु श्याम के पैरों में उसके कारण छाले पड़ गए। जब रुक्मणी कृष्ण के पैर पकड़ने लगीं तो उन्होने उनके स्पर्श होते ही 'सी' करके अपना पैर खींच लिया। रुक्मणी के पूछने पर कारण का पता चला। कहने लगीं—

दूध पियें राधा तुम जरो। चुप रहो बात अटपटी करो॥

श्याम ने उत्तर दिया—

सुनी प्यारी बात अटपटी। राधा मोसों रहे अति निकटी ॥६१॥
मेरोई ध्यान मिलन अभिलाषे। निसदिन चरन हिरदे पद राखे॥
तातो दूध पगनि पर परयो। तातें रुकमनि हो हॉ जरयो ॥६२॥

यह देखकर रुक्मणी 'व्रज के प्रेम मगन ह्वे गई।'

फिर राधा कृष्ण मिलन हुआ। शिकवा शिकायत हुई। परन्तु रुक्मणी तो राधा से मिलकर राधामय हो गई'!

छठा अंक—इस अंक का नाम 'नित्य विहार' है और इसमें ५८ छन्द हैं।

बहुत दिनों तक सब मिलकर आपस में एक साथ रहे। फिर एक दिन श्याम विदा माँगने लगे क्योंकि अधिक विलम्ब करने से राज-नीति का क्षय हो रहा था।

यह सुनकर सब व्याकुल होगए यहाँ तक कि पशु भी बोलने लगे और अपनी व्याकुलता दिखलाने लगे। राधा ने भी एक हठ ठान ली और अकाल ही मृत्यु की बात सोच कर—

यह कहि कूदि सरोवर परी। सीतल भई परम जुर जुरी॥
कंठ प्रमान भयो जल तहॉ। परम अगाध नीर हो जहॉ ॥२४॥
कूकि कूकि रोवे अकुलाई। महा विरह दुख कोन पे जाई॥

इस पर सत्यभामा क्रुद्ध कर कहने लगी—

कन्तु परायो चाहत जोरन।... ... ...॥
क्यो न जाय व्रज खर किन वैठत। वादि पराए घर में पैठत॥

जब लगि हे ए कारे बारे। तब लगि देखे चरित तुम्हारे ॥
अब तो ए छितिपति यदुनायक। ग्वाल गँवार तुम्हारे लायक ॥
... ...
मरत जिवत सँग छोड़त नाहीं। जे लछिन कुलनारिन माँहीं ॥२८॥

राधा यह सुनकर उसे प्रेम का पाठ पढ़ाने लगी और एक लम्बा चौड़ा उपदेश इस सम्बन्ध में उसे दे डाला। तब सत्यभामा को मालूम पड़ा "कि इन तिलों मे तेल कहाँ ?" थोड़ी सी देर इसी प्रकार दोनों में नोक झोक होती रही। फिर हरि ने स्वयं ही सत्यभामा से कहा—

सतिभामा सत इन करी। इह प्रीतम सिर मोर ॥
याकी गति कछु और है। तेरी गति कछु और ॥४८॥

तत्पश्चात् हरि ने राधा से सरोवर में से निकलने के लिए कहा। राधा ने कृष्ण से प्रण कराया कि मैं इस शर्त पर बाहर आ सकती हूँ कि—

तब राधा एसी कही। तो वृन्दावन जाउँ ॥
के नित सँग विहरूँ तहाँ। के ह्यां सरहि सुसाउँ ॥५४॥
'एवमस्तु' हरिजू कह्यो। तब आई सर तीर ॥
श्री रुकमनि सुख पाइ के। पहिराए नव चीर ॥५५॥

'नित्य-विहार' का यह वरदान लेकर राधा वृन्दावन वापिस आ गईं और

जिनके तन मन प्रेम अति। ते दरसन सुख सार ॥
वृन्दावन तब ते रहत। राधा नन्द कुमार ॥५८॥

सातवाँ अंक—इस अङ्क का नाम 'अद्वैत' अंक है और इसमें ३५ छन्द है। आरम्भ में लछीराम जी ने अपनी इस (*करुणाभरण*) कथा के जनसाधारण पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन किया है, फिर अपने गुरु काशीनिवासी सन्यासी कवीन्द्र सरस्वती का उल्लेख किया है। फिर क्रोध, मद और मोह के परिणाम के विषय मे अपना विचार प्रकट किया है और बताया है कि संसार में जो विभिन्नता दिखाई देती है वह भ्रम है। सब कुछ एक ही है और सब ब्रह्ममय है और इसलिए 'द्वैत' भाव को छोड़ कर 'अद्वैत' का अनुसरण करना चाहिए ?

समस्त नाटक ब्रजभाषा मे लिखा गया है और मुख्य छन्द दोहा तथा चौपाई है। कविता सजीव है और उसमें शृङ्गार के अन्तर्गत

वात्सल्य और विरह आदि भावों तथा करुण रस का अच्छा निर्वाह हुआ है।

परन्तु पुस्तक 'नाटक' न कहलाई जाकर खण्ड काव्य कहलाई जानी चाहिए। संभवतः इसका नाम भी 'नाटक' उसी प्रकार रख दिया गया हो जिस प्रकार *समासार* का।

५. शकुन्तला उपाख्यान

(ले० का० सन् १६८० ई०)

इसके लेखक 'नेवाज' कवि पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल के आश्रित थे और कहा जाता है कि औरंगजेब के पुत्र आजमशाह से भी इनका सम्बन्ध था। ऐसा प्रसिद्ध है कि महाराज छत्रसाल के यहाँ ये किसी भगवत कवि के स्थान पर नियुक्त हुए थे जिस पर भगवत कवि ने यह फबती छोड़ी थी।

भली आजु कलि करत हौं, छत्रसाल महाराज।
जहँ भगवत गीता पढ़ी, तहँ कवि पढ़त नेवाज॥

आलोच्य पुस्तक का निर्माण काल शुक्ल जी और बा० ब्रजरत्त-दास दोनों के अनुसार सं० १७३७ या सन् १६८० ई० है। जिस मुद्रित पुस्तक के आधार पर ये शब्द लिखे जा रहे हैं वह सन् १८८३ ई० में चन्द्रप्रभा यंत्रालय बनारस में मुद्रित हुई। इसका प्रकाशन चौधरी अयोध्याप्रसाद और पं० लालमन जी ने किया है।

परिचय

पहला अंक—पुस्तक में चार अंक हैं। पहला अङ्क आरम्भ होता है कौशिक मुनि की घोर ६४ वर्षीय तपस्या वर्णन से। इन्द्र इस तपस्या के प्रभाव से डरकर मेनका अप्सरा को बुलाता है और किसी प्रकार ऋषि की तपस्या भंग करने का आग्रह करता है। उत्तर में इस गर्वोक्ति के साथ—

और की कहा है ब्रह्म, हरि हर हू कों जो कहो
तो मनमथ वस काम करि आऊँ सो।

१६ शृङ्गार और द्वादश आभूषणों से युक्त मेनका विमान में चढ़कर पृथ्वी पर आई और 'मूरति बनाई निज मोहिनी, मुनि के मन मोहन

चली।' मेनका का इन्द्र वांछित प्रभाव पड़ा और—

एक महूरत के सुख कारन, खोयो तपु करि वर्ष हजारन।
गर्भ मेनका कीन्हो धारन, तब सो मन में लगी विचारन।
नर-गरभहि लै के जो जाऊँ, तो सुरपुर महँ पैठि न पाऊँ।
भई सुता नौ मास भये जब, गई मेनका सुरपुर को तब।

इस प्रकार जन्मी शकुन्तला को स्नान करने जाते समय कण्व ऋषि उठा लाये और उसे गौतमी बहन के सुपुर्द कर दिया। दिन-दिन शकुन्तला बढ़ने लगी। वह कण्व की सुता कहलाई और पेड़ों की छाँह में खेलने लगी। प्रियंवदा और अनसूया उसकी दो सखियाँ थीं। कुछ दिनों बाद कण्व तीर्थयात्रा को चले गए और शकुन्तला से कहते गए—"खाने के समय गौतमी से कहना, कोई ऋषि आवें तो उनका आदर करना, हृदय में उदास न होना; मैं कुछ दिनों में आऊँगा, तब तक आनन्द से रहना।" इधर शकुन्तला के यौवन का आगमन हुआ और उधर दुष्यन्त का। सखियाँ शकुन्तला से परिहास करने लगीं और एक भौंरा आकर उसे सताने लगा। तंग आकर शकुन्तला ने सखियों की सहायता माँगी परन्तु उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की। राजा की याद की गई और दुष्यन्त एकदम प्रकट हो गए। पूछने लगे—'कहो कहो किह तुमहि सतायो।'

निरखि नृपहि बिन मोल बिकानीं, तीनो छकीं डरीं अकुलानीं।
ठाढ़ी रहि न सकीं नहि डोलें, जकि सों रहीं कछू नहिं बोलें।
अनुसूया तब मन दृढ़ कीन्हीं, महाराज को उत्तर दीन्हो।

काहू न सताई यह भोरी सी शकुन्तला,
उड़ि के सो भमरी भाजी भौन को डराय है।
अति ही अभीत महाराज श्री दुष्यन्त ताके,
राज में रिपिन कौन सकत डराय है।

दुष्यन्त और शकुन्तला का वार्तालाप आरम्भ हुआ। राजा ने कुशल मंगल पूछा। संभ्रम से शकुन्तला इधर उधर देखने लगी। अनसूया ने उत्तर दिया। पीछे राजा से पेड़ की छाया में आकर बैठने और आतिथ्य स्वीकार करने की प्रार्थना की। सब वृक्ष की छाया के नीचे बैठे और—

हिये में महीप के शकुन्तला समानी सो
शकुन्तला के हिये में समानो महिपाल है।

अनसूया अतिथि का नाम पूछने लगी। इस पर दुष्यन्त ने अपने को 'दुष्यन्त का चाकर' बताया और प्रश्नों की फिर झड़ी लग गई—

शकुन्तला यह सखी तिहारी। विधि अति ही सुकुमारि सम्हारी।
मुनिवर याहि ब्याहि कहु दैहैं। कै अब यासों तप करवैहैं।
याको अंग न है तप लायक। कहा विचार कियौ मुनिनायक।
तब अनुसूया उत्तर दीन्हो। कण्व महा मुनि यह प्रन कीन्हों।
शकुन्तला सम सुन्दर ह्वै है। करिहो शकुन्तला जो कहिहै।
ऐसो बरु काहू लखि पैहो। तबहीं याहि ब्याहि तहँ दैहों।

... ...

यह सुनि कें बोल्यो अवनीपति। शकुन्तला की लखि तन दीपति।

... ...

ढूँढि जगत मुनिवर फिरि अईहैं। शकुन्तला अनब्याही रहिहै।
तब अनुसूया फिरि हँसि बोली। खानि चतुरता की मनु खोली।
जब विरञ्चि नीके दिन ल्यावत। मनवांछित बैठे घर आवत।
तुम से साधु कृपा उर धरिहैं। सुफल प्रतिज्ञा मुनि की करिहै।
नृप जब पाई सुनि यह बानी। शकुन्तला अति ही सरमानी।
प्रियंवदा बिहँसति आनन में। शकुन्तला के लगि कानन में।
कही आज जाती तुम ब्याहीं। करिये कहा कण्व घर नाहीं।

इतने मे राजा को ढूँढते-ढूँढते उनका सेना-दल वहाँ आ गया। रंग मे भंग हो गया। फौज के जमघट को देखकर सखियों सहित शकुन्तला उठकर आश्रम की ओर चली गई और अनसूया चलते चलते राजा से फिर आकर दर्शन देने की प्रार्थना करती गई।

इतने कथानक के पश्चात् लेखक ने दो दोहों में शकुन्तला और दुष्यन्त के मन की व्याकुलता को प्रकट कर, जाती हुई शकुन्तला का वर्णन किया है—

तनु आगे मनु जातु है, शकुन्तला तनु जातु।
सनमुख पीत निशान पट, पीछे ज्यो फहरातु॥
या विधि अति ही दुचित ह्वै, उतै चल्यो महिपाल।
शकुन्तला को इत चलत, भयो निपट बेहाल॥

तथा

उरझोई द्रुमन दुकूल सुरझावे लोग,
काढ़नि लगति कंटक बहु पगनि सों।
कबहूँ 'निवाज' खुले केसन कसन मैं,
कबहूँ अंगिरान लागति अँगनि सों।
ऐसे छल छिद्र कै कै ठाढ़ी ह्वै रहति,
शकुन्तला निपट भई व्याकुल लगनि सों।
सखियन की नज़रि निवारि निवारि नारि,
फेरि फेरि महिपालहि देखे दृगनि सों॥

दूसरा अंक—आरम्भ शकुन्तला और राजा दोनों के विरह वर्णन से होता है। राजा तो राजकाज छोड़ तपोवन में अपना डेरा ही डाल देता है। इसी बीच में दो सिद्ध मुनि उसके द्वार पर आते हैं। राजा उनका सत्कार करता है। मुनि अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राजा से प्रार्थना करते हैं और राजा और अधिक दिन तक वहाँ रहने का बहाना मिलने के कारण अपनी प्रसन्नता प्रकट करता है। एक दिन विरह से आतुर राजा शकुन्तला को वन में ढूँढता हुआ फिरता है और सघन पेड़ों की छाया में ग्रीष्म से व्याकुल सखियों द्वारा चंदन आदि का लेप कर शकुन्तला के शरीर को ठंडक पहुँचाते देखता है। पेड़ों की आड़ में छिपकर वह शकुंतला और उसकी सखियों की बात-चीत सुनता है। शकुंतला कह रही थी—

जा दिन ते वह वन रखवारो। दरसन देके फिर न सिधारो।
ता दिन ते बिसरी सुख हाँसी। रहत गहैं दिन राति उदासी।

इस प्रकार शकुंतला के विरह का कारण ज्ञात होने पर सखियाँ उसे सलाह देने लगीं—'अपनी व्यथा प्रकट करने वाली एक पत्रिका लिख कर राजा को भेजो। शकुंतला के मन में संदेह हुआ 'उत्तर न दें तो', इस पर अनसूया ने उसे समझाया। शकुंतला ने कमल पत्र पर नाखून से लिखा—

कीजै कौन उपाय, दया तुम्हारे है नहीं।
मन लै गये चुराय, फेरि दिखाई देत नही॥
कोमल सब अँग और, रचे विरञ्चि विचारि कैं।
हिरदे निपट कठोर, मन काहे ते ह्वै गयो॥

शकुंतला पत्र पढ़कर सखियों को सुनाने लगी और राजा पेड़

की आड़ से निकल शकुन्तला से कहने लगा—

निशि दिन रहत अचेत, घर जैबो भारू भयो।
एक तिहारे हेत, बनवासी हमहू भये॥

राजा को देखकर शकुन्तला उठने लगी परन्तु राजा ने उसकी निर्बलता के कारण लेटे रहने का ही अनुरोध किया। राजा को देख कर सखियाँ बड़ी प्रसन्न हुईं और निकट बैठकर अपनी 'बैदई' (वैद्यक) दिखाने की प्रार्थना की। थोड़ी सी देर हास परिहास रहा। फिर गम्भीर मुद्रा में अनसूया कहने लगी—

राजनि के होतीं बहु नारी। जरें सवतिया डाह की जारी।
माइ न बाप कुटुम्ब न भाई। शकुन्तला विधि दुखी बनाई।
तुम सों कछू निरादर ह्वै है। शकुन्तला पुनि जियत न रहिहै।

राजा ने उत्तर दिया—

जे घर मेरे हैं बहुतेरी। शकुन्तला की हैं सब चेरी।
शकुन्तला यह सखी तिहारी। मोहि लगति प्राननि तें प्यारी।
... ...

फिर कहने लगा—

शकुन्तला जो मोहि न बरिहै। अपनो मोहि दास तो करिहै॥
शकुन्तला बिन घरे न जैहौं। शकुन्तला को दास कहैहौं॥

यह स्थिति देखकर सखियाँ छल करके वहाँ से खिसक गईं। अपने को अकेला पाकर शकुंतला हक्का बक्का हो उठने लगी परन्तु राजा ने बाँह पकड़ कर उसे बिठा लिया और कहा—"ऐसी गरमी में कहाँ जाओगी? ऐसी शीतल छाँह छोड़ कर। क्या हुआ यदि सखियाँ चली गईं, मेरे जैसे सेवक तो तुम्हारे पास हैं। फिर सखियाँ तुम्हें मुझको सौंप गई हैं। जो सेवा लेनी हो मुझसे लो। कहो अगर चन्दन घिसि ल्याऊँ, कहो तो शीतल पवन डुलाऊँ"। तत्पश्चात् ढिठाई से बाँह पकड़ कर बिठा लिया। और शकुन्तला—

धक धक छतिया लागी डोलै। शकुन्तला लागी फिरि बोलै।
महाराज यह उचित नहीं है। कहा हमारी बाँह गही है।
बाप हमारो है घर नाहीं। अरु अब लौं हम हैं अनब्याहीं।
और ब्याह अब नहि अभिलाखों। हम तुम को मन में करि राखों।
बाप हमारो जब घरि अइहैं। तुमको हमें ब्याहि तब दैहैं।

अब लौं तुम हम से नहिं ब्याहे। मोंहि कलंक लगावत काहे।

राजा ने उत्तर दिया—

कहु कितने नृप की सुतन, गन्ध्रव कीन्हें ब्याह।
गईं ब्याहि बरु पाइ कें, तिन को होत सराह॥
गही बाँह अब आजु तें, तुम प्यारी हम नाह।
हमे तुम्हे यह ठौर अब, भयो गँधर्व विवाह॥

तत्पश्चात् काफी समय 'तक दोनों एकान्त में प्रेमालाप कर काम-केलि में मग्न रहे। इतने में सखियों ने आकर शकुन्तला को सूचना दी कि बहिन गौतमी आ रही हैं। संभ्रम से शकुन्तला ने राजा को पेड़ की आड़ में छिप जाने का आदेश दिया, फिर दर्शन देने की प्रार्थना की और एक निशानी माँगी। राजा ने अपनी अँगूठी निकाल कर शकुन्तला को दे दी और अपने आप छिप गया। शकुन्तला फिर से बहाना कर दुख-शय्या पर पड़ गई। इतने में गौतमी आ गईं और शकुन्तला से ताप कम होने के सम्बन्ध में पूछने लगीं। उसने उत्तर दिया 'हाँ अब कम है।" इस पर गौतमी शकुन्तला का हाथ पकड़कर उसे अपने साथ ले गईं। उनके चले जाने पर राजा निकल कर अपने सुरति-स्थान को देखने लगा और विरह-पीड़ा का अनुभव करने लगा। इसी बीच में ऋषियों का नाद सुनाई दिया—

"हमारे यज्ञों मे बाधा डालने वाले दानवों की छाया दिखाई देती है। राजन् तुम कहाँ हो ?"

ये शब्द सुनकर वियोग की पीड़ा हृदय में लेकर भी राजा उनकी रक्षा करने के लिए तैयार हो गया।

तीसरा अंक—आश्रम में आने के पश्चात् शकुन्तला की विरह व्यथा और अधिक बढ़ने लगी। यदि कभी सान्त्वना मिलती तो केवल अँगूठी को देखकर। दशा यहाँ तक बिगड़ गई कि

चित्र कैसी लिखी नेक डोलति न बोलति न
दुखन की मोट धरि दीन्हीं विधि माथ में।
सुनत बात सूने से ह्वै गये सकल गात
बैठी ध्यान कीन्हे मन दीन्हे प्राणनाथ में।

इसी अवसर पर दुर्वासा ऋषि ने प्रवेश किया और आतिथ्य

सत्कार न होने के कारण शाप देकर चले गये—

सुधि तेरी न सो करिहै कबहूँ
यह श्राप सिताब दे जात रह्यो।

परन्तु शकुन्तला फिर भी ध्यान-मग्न बैठी रही। सखियों ने यह दशा देखकर ऋषि से शाप वापिस लेने की अनुनय की। अन्त में ब्राह्मण देवता यह कहकर कि 'अँगूठी देखकर राजा को याद आ जायगो' वहाँ से चलते बने। परन्तु सखियों ने यह भेद शकुन्तला से इसलिए नहीं कहा कि उसे सुन कर दुख होगा। शकुन्तला के दिन विरह में व्यतीत होने लगे। उधर दुष्यन्त ऋषियों से विदा ले कर अपनी राजधानी में पहुँचा और वहाँ जा कर शकुन्तला को बिलकुल भूल गया।

इस बीच में शकुन्तला के गर्भ लक्षण दिखाई देने लगे। उसका शरीर कृश होने लगा, छवि पीली पड़ने लगी; आलस्य का उदय हुआ और चेहरा उतरने लगा। कण्व भी अपनी तीर्थ यात्रा समाप्त करके आश्रम में लौटे और एक यज्ञ करने लगे। यज्ञ में से यह बानी हुई—

ब्याही नृप दुष्यन्त कों करि गंधर्व विवाह।
शकुन्तला है गर्भ सो भलो भयो मुनि नाह॥

इसको सुन कर ऋषि ने शकुन्तला को अपने पास बुलाया। बड़े शिष्टाचार और स्वाभाविक लज्जा से घिरी वह उनके सामने आई। कण्व ऋषि ने उसे चक्रवर्ती पुत्र होने का आशीर्वाद दिया और अगले दिन प्रात ही ससुराल भेजने का आदेश दिया। यह समाचार सुनते ही सखियों में उदासी छा गई। सवेरा होते ही शकुन्तला को स्नान करवाया गया। विदा के समय सब ऋषि-वधुयें वहाँ आईं और आशीर्वाद देने के उपरान्त कुछ शिक्षा देने लगीं। तत्पश्चात् उनके चले जाने पर सखियाँ शकुन्तला का शृङ्गार करने लगीं परन्तु दुख से पीड़ित हो कहने लगीं—

का [illegible] ल्यावैं। गहनों नहीं कहा पहिरावैं।

उसी समय [illegible] कुमार कुछ गहने हाथ में ले [illegible] पहुँच गए। [illegible] बड़े प्रसन्न हुए परन्तु साथ सखियाँ [illegible] पूछने लगीं—'यह कहाँ से

प्रश्न के उत्तर में मुनि-कुमारों ने बालोचित स्वभाव से कहा—

कण्व गुरु हमको पठायो कै शकुन्तला को,
फूल तोरि ल्याउ फूल माला पहिराउ आनि।
हम गये फूल तोरें और गति भई तब,
सिद्धि है गुरु की वह हमकों परति जानि।
काहूँ पाये पान काहूँ काजर ललित, काहूँ
काहूँ महावर काहूँ सेंदुर सुहाग बानि।
रूखन के भीतर तें हाथन निकासि गहि,
भूखन बसन हमें दीन्हें बन देवतानि॥

तदुपरान्त गौतमी ने शकुन्तला का शृंगार किया, माँग में सेंदुर भरा, आँखों में काजल लगाया, पैरों में जावक, मुँह में पान का बीड़ा रखा। इतने में कण्व ऋषि वहाँ आ पहुँचे। वनवासी होते हुए भी उन्हें शकुन्तला का वियोग सता रहा था। वह कहने लगे—

धरत न धीर गरो भरि भरि आवत है,
निकसि निकसि नीर आवत दृगनि में।
हरष हिरानो जात कछु न सुहात, तन
मन अकुलात यों रहो न जात बन मे॥
आज ससुरारि को शकुन्तला सिधारेगी सो,
याही सोच सकुच सम्हार नहिं तन में।
मेरे बनवासी के भयो है दुख एतो, दुख
केतो होत ह्वैहै घरवासिन के मन में॥

पिता की ऐसी अवस्था देख शकुन्तला का भी मन भर आया। कण्व फिर कहने लगे—

फूलति तुम्हे निहारि ऐसे उर फूलति ही
सुत के भये तें फूल होत जैसे नारि को।
क्यारीं आलबालनि बनावति रहति याही
श्रम में बितावतीं हुती जो याम चारि को।
जब लौं पहिले तुम्हें न सींच लेत हुती
तब लौं न कबहूँ जो पियत हुती वारि को।
सेवा इहि भाँति जो करति ही तिहारी सोई
सुनिये शकुन्तला सिधारी ससुरारि को॥

शकुन्तला के जाते समय सभी को मोहजन्य दुख होने लगा। जाते समय सारे पेड़ आदि उसने अपनी सखियों को सौंप दिए।

पशु पक्षियों ने भी शकुन्तला के जाते समय सब कुछ छोड़ दिया, पवन स्थिर हो गया और भौंरों ने गुंजार करना बन्द कर दिया। विदा के समय ऋषि ने उसे फिर आशीष दिया और सास ससुर की सेवा का उपदेश भी। साथ में जाने वाले शिष्यों द्वारा दुष्यन्त को यह सन्देशा भेजा—

हमें न आश्रम आवन दीन्हो। आपहि ब्याह गंधरब कीन्हो॥
शकुन्तला जु न सुख में रहिहै। यह दुख मोपै सह्यो न जैहै॥

शकुन्तला विदा होने लगी तो सखियों ने दुर्वासा के शाप की याद दिला कर उसे सचेत कर दिया। जब तक दिखाई देती रही सखियाँ शकुन्तला को देखती रहीं। अन्त में आँखो से ओझल हो जाने पर सब वापिस आ गईं।

शकुन्तला आगे बढ़ती गई। चलते चलते, 'पतिपुर नगिचायो'। पर उसने मार्ग में निकट ही एक तालाब देखा और अपनी प्यास बुझाने के लिए उसके निकट गई। मुँह धोने के लिए पानी लिया और उसी समय अँगूठी उसमें गिर गई परन्तु शकुन्तला को इसका ज्ञान न हुआ।

सब राजद्वार पहुँचे। शिष्यों ने राजा तक अपने आने का समाचार कहलाया। 'नारि सुने नृप अचरज मानो' उसने शिष्यों को अन्दर बुलवाया। गौतमी और शिष्य आगे आगे और शकुन्तला उनके पीछे पीछे चली। दरबार में शिष्यो का सत्कार किया गया। उसी समय शकुन्तला का दाहिना नेत्र फड़का। घूँघट की ओट से शकुन्तला ने राजा की ओर देखा। रसमग्न हो राजा पूछने लगा—

को यह नारि, कहाँ तें आई। बन में मुनिन कहाँ यह पाई?

सारा वृत्तांत सुन राजा को आश्चर्य हुआ। उसने ऋषि आदि की कुशल क्षेम पूछी। शिष्यों ने ऋषि का सन्देश सुनाकर विदा माँगी। राजा कहने लगा—

'किसने ब्याह किया है? मुझे तो याद नहीं।'

शिष्य कुपित हो राजा को धर्म अधर्म का उपदेश देने लगे। इतने में गौतमी ने शकुन्तला से कहा—"अपना घूँघट उघाड़ कर तो

ज़रा राजा को दिखाओ।" राजा देख कर न 'हाँ' कर सका और न 'ना'।' थोड़ी देर बाद कहने लगा—"मैंने तो इसे स्वप्न में भी नहीं देखा, मुझे याद नहीं कब मैंने विवाह किया था। गर्भवती दूसरी स्त्री को घर में कैसे रख लूँ?" शिष्यों के बहुत समझाने पर भी राजा न माना। तब उन्होंने शकुन्तला से कहा—'स्वयं बात क्यों नहीं करती हो? लाज छोड़ो।' शकुन्तला कहने लगी—

महाराज यह नीति कहा है, याते अधरम होत महा है।
या में कहो कहा तुम पावत, क्यो बिन काज कलंक लगावत।
तब वैसी करिके छल घातें, अब तुम कहत कहा ये बातें।
बिदा होत तुम दई अँगूठी, याते हौं हुइहौं नहिं झूँठी।
और भेद अब कहा बतावौं, वहै अँगूठी कहो दिखावौं।

राजा ने उत्तर दिया—

जो मैं लखन अँगूठी पाऊँ, तो मै तुमहि साँच ठहराऊँ।

परन्तु—

कर में तब न अँगूठी पाई, हाथ हाय तिहि ठौर मचाई।
... ...
... ...राजा कही बिहँसि यह बान।
त्रिय चरित्र सुनि राखे बैननि, ते हम लखे आजु निज नैननि।
मै कब तोकों दई अँगूठी, ऐसी बात कहत क्यों झूँठी।
परतिय ते मन बिमुख हमारो, चलिहै कछु न प्रपंच तिहारो।

शकुन्तला अनेक प्रकार से अनुनय विनय करने लगी, पिछली अनेक बातों की याद राजा को दिलाने लगी परन्तु राजा ने एक न सुनी। इस पर वह रोने लगी। 'जैसा किया वैसा फल पाया' यह कह कर शिष्यों ने राजा से कहा 'हम तो इसे छोड़ कर जाते हैं चाहे घर में रखो या न रखो' और गौतमी का हाथ पकड़कर चलने लगे। शकुन्तला रोती हुई उनके पीछे चली। वे कहने लगे—'अभागिनी यहाँ कहाँ आ रही है, जो मन में आवे कर। यदि तू ऐसी ही है जैसा राजा ने कहा है तो मुनि ऐसी कन्या का क्या करेंगे?' आदि। राजा ने भी पुकार कर कहा 'इसे यहाँ क्यों छोड़े जाते हो?' तब राजमंत्री कहने लगे—'जब तक पुत्र न हो यह मेरे घर में रहे। यदि चक्रवर्ती पुत्र हो तो इसकी बात सच माननी चाहिए। यदि यह और तरह की हो तो

फिर मुनि के घर जावे।' राजा ने उत्तर दिया—'जैसी तुम्हारी इच्छा हो।' मंत्री ने शकुन्तला से अपने घर चलने के लिए कहा। शकुन्तला सोमराज के साथ जाने लगी परंतु बीच ही में एक आग की लपक सी आ गई और मेनका शकुंतला को उठाकर ले गई। मंत्री ने आकर यह समाचार राजा को दिया। वह कहने लगा—'हमने तो पहले ही छोड़ दिया था, परमेश्वर ने अच्छा किया।'

पुरोहित अपने घर चले गए और राजा अपने शयन मंदिर में। सुरति न होने पर भी राजा कभी कभी किसी अज्ञात कारण से मन में उदास हो जाता।

चौथा अंक—तालाब के पानी में गिरी हुई अँगूठी केवट को मिल गई। उसे बेचने के लिए वह बाजार गया और राजा का नाम खुदा होने के कारण वह कोतवाल द्वारा पकड़ लिया गया। वह कहने लगा—"मैंने इसे चुराया नहीं। मछली का शिकार खेलते समय तालाब में पाया है।" कोतवाल ने वह अँगूठी लाकर राजा को दे दी। उसे देखते ही राजा शकुंतला के ध्यान में मग्न हो गया। व्याकुलता दिन प्रति दिन बढ़ने लगी। उसकी बुरी दशा देख नगर-वासियों में भी उदासी छा गई; वन बगीचों में फल फूलों ने भी फलना छोड़ दिया। राजा मन ही मन कहता—'शकुन्तला अब निठुराई छोड़ो, उस समय सुधि न रही; जैसा मैंने किया वैसा फल पाया।' कहते कहते अनेक बार मूर्च्छित हो जाता। जब दास-दासियाँ उसे उपचार कर सचेत करते तो फिर कहता—'ऐसा क्यों किया? थोड़ी देर मूर्च्छा के कारण चैन तो मिला था।' फिर विलाप करने लगता—'वह मेनका की पुत्री थी, सुरलोक में रहने वाली भुवलोक में क्यों आने लगी। अब मिलना कठिन है।' आदि आदि।

उधर मेनका ने शकुन्तला को कश्यप के आश्रम में ले जा कर रख दिया। वहीं शकुन्तला के पुत्र का जन्म हुआ और उसका नाम भरत रखा गया। मु[illegible] ाले में एक गंडा बाँध दिया जिसका प्राय यह था [illegible] ोड़ कर जो उसे छुएगा उसके साँप हो ज[illegible]।

फिर [illegible] द्र से दुष्यन्त को बुला[illegible]

मेल कराने की प्रार्थना की। इन्द्र ने अपने सारथी मातलि को विमान सहित दुष्यन्त के पास सन्देश दे कर बुला लाने के लिए भेजा कि—

हम सों दानव करत लराई। होहु हमारे आनि सहाई ॥

राजा दुष्यंत ने संदेश सुन कर इंद्र की कुशल क्षेम पूछी और कपड़े पहिन शस्त्र साथ में ले चलने को तैयार हो गया। मार्ग में एक पहाड़ को देख कर उसने मातलि से उसके विषय में पूछा। सारथी ने कश्यप के आश्रम का नाम बताया और राजा के कहने पर कि मैं मुनि का दर्शन करना चाहता हूँ वह दुष्यंत को वहाँ ले गया।

ऋषि के आश्रम में पहुँच कर राजा ने देखा एक बालक सिंह के बाल खींच रहा है और उसके दाँत गिनना चाहता है। दो तपस्विनियाँ भी यह देख रही थीं। बालक को देखते ही राजा के हृदय में सात्विक वात्सल्य भाव का उदय हुआ और जिज्ञासा वश उन तपस्विनियों से उसके पिता का नाम पूछा। वे कहने लगीं "याके पापी बाप को नाउँ न कोउ लेत" क्योंकि उसने शकुन्तला जैसी "सुलज, सुशील और पतिव्रता नारि को बिना कारण ही तजकर निकाल दिया।" फिर माता का नाम पूछने पर उन्होंने शकुन्तला को बता दिया। राजा ने एकदम पुत्र को गोद में उठा लिया और हर्ष में गद्गद हो कहने लगा—"वह पापी मैं ही हूँ; बिना कारण मैंने ही उस प्राण प्यारी पतिव्रता को निकाला। अब वह कहाँ है ? उसे मेरे आने की सूचना दो।" गंडे से राजा का कुछ अनिष्ट न होते देख कर उन्हें राजा की बात पर विश्वास आ गया। उन्होंने जा कर शकुन्तला को यह समाचार दिया और उसे पकड़ कर वहाँ ले आईं। मैले वसन, मैला मुख और फैले हुए मैले केशों को देख-कर राजा की आँखों मे आँसू भर आये। शकुन्तला भी चुपचाप आकर उसके पास खड़ी हो गई।

'राजहि और न कछु कहि आयो। शकुन्तला के पग शिर नायो।'

शकुन्तला ने राजा को उठाया और कहने लगी 'हमारे पैर छूकर हमे पाप क्यों लगाते हो ?' फिर पूछा—'तुमने हमें क्यों बिसरा दिया और अब कैसे सुधि आ गई ?' इस पर राजा ने अँगूठी की कथा सुनाई और अपने दोष को भुलाने के लिए कहा। शकुन्तला ने उत्तर

दिया 'महाराज हमारा भाग ! आपका दोष नहीं।'

राजा सुख का अनुभव कर रहा था। उसी समय कश्यप ऋषि वहाँ आ गए। राजा ने उन्हें प्रणाम किया। मुनि ने आशीर्वाद दिया और आदरपूर्वक बिठा कर कहा—

शकुन्तला है कुलवधू, यह सुत है शुभ योग।
राजवंश के रतन तुम, भलो बनो संयोग॥

इस पर राजा ने अँगूठी का भेद मुनि से पूछा। मुनि ने सारा रहस्य राजा को बतलाया और कहा इसीलिए इन्द्र ने तुम्हें यहाँ बुलाया है। इस प्रकार

यों पुनि बैठि विमान में, मुनि को कियो प्रणाम।
शकुन्तला सुत सहित नृप, आयो अपने धाम॥

इहि विधि भाग्य भाल में जाग्यो। राजा राज करन फिर लाग्यो।
नृप के सुख सब रैयत राजी। घर घर पुर में नौबति बाजी।
शकुन्तला तब भइ पटरानी। यह इतनी ह्वै चुकी कहानी।

मूल और अनुवाद

मूल में सात अंक है। तीसरे अंक के पश्चात् एक विष्कंभक है जिसमें दुर्वासा द्वारा शकुन्तला को शाप दिलवाया गया है। छठे अंक में एक प्रवेशक है जिसमें शकुन्तला के हाथ से गिरी हुई अँगूठी के मिलने की कथा है।

आलोच्य अनुवाद मे और मूल में बड़ा अन्तर है। यह अन्तर कथानक की दृष्टि से तो कुछ भी नहीं क्योंकि सम्पूर्ण कथा मूल के क्रम के अनुसार ही कही गई है। भेद केवल इतना ही है कि 'नेवाज' ने अपने उपाख्यान में केवल चार अंक ही रखे हैं।

वास्तव में नेवाज की पुस्तक 'नाटक' नहीं और नाटक का अनुवाद भी नही। वह केवल कालिदास कृत *शकुन्तला नाटक* का पद्यबद्ध वर्णन है। संभवतः इसी कारण से लेखक ने उसे *शकुन्तला उपाख्यान* नाम भी दिया है। वह जानता था कि नाटक के अनुसार न तो वह अपनी पुस्तक में कोई दृश्य ही रख रहा है और न पात्रों के प्रवेश अथवा प्रस्थान का ध्यान। संस्कृत के नाट्यशास्त्र के नियमों में से किसी का भी पालन लेखक ने नहीं किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पुस्तक को 'नाटक' कहने की परम्परा जो चली आ रही है उसके तीन कारण हैं—

१. पुस्तक में सारी कथा का क्रम और घटनाओं का वर्णन कालिदासकृत नाटक के अनुसार है।

२. संस्कृत के कवि ने *महाभारत* और *पद्मपुराण* में मिलने वाले शकुन्तला आख्यान को नाटक में परिवर्तित करने के लिए जो स्वतंत्रता ली है, नेवाज ने भी वही किया है।

महाभारत के आख्यान के अनुसार शकुन्तला तपोवन में ही पुत्रवती हुई किन्तु नाटककार ने इस घटना को शकुन्तला के परित्याग के बाद कश्यप ऋषि के आश्रम में घटित किया है। दूसरी बात यह है कि उपरोक्त आख्यान के आधार पर शकुन्तला का त्याग और ग्रहण एक ही स्थल पर थोड़े समय के अन्तर से हुआ है परन्तु नाटक में त्याग वाली घटना राज-दरबार में होती है और मिलन कालान्तर में अन्य स्थान पर दिखाया गया है। इनके अतिरिक्त दुर्वासा का शाप और उसके प्रभाव स्वरूप अँगूठी वाली कथा, प्रत्याख्यान के पश्चात् मेनका द्वारा शकुन्तला का अपहरण, स्वर्ग से राजा इन्द्र का निमन्त्रण, हेमकूट पर्वत पर कश्यप ऋषि के दर्शन तथा शकुन्तला की बाल-सहचरी अनसूया और प्रियंवदा की सृष्टि—ये सब कालिदास की कल्पना हैं और नेवाज ने भी उनका स्वामिभक्त अनुकरण किया है।

३. पुस्तक में प्रसंगों का विभाजन अङ्कों में हुआ है। इसी से सम्भवतः यह भ्रम अधिक फैला है कि नेवाज का *'उपाख्यान'* 'नाटक' है।

अन्य ज्ञातव्य

(१) समस्त पुस्तक में ६ छन्दों का प्रयोग किया गया है। वर्णन प्रसङ्ग प्रायः चौपाई और दोहों में हैं। कविता का भावपूर्ण अंश सवैये और घनाक्षरी तथा हरिगीतिका में अधिक अच्छा निखरा है। कहीं कहीं छप्पय में भी भाव अच्छी तरह व्यक्त किए गए हैं परन्तु प्रधानता अन्य छंदों की ही है।

(२) पुस्तक में प्रसंग-वर्णन की मात्रा अधिक है अतएव लेखक

ने 'शकुन्तला उपाख्यान' नाम की सार्थकता प्रमाणित कर दी है।

(३) एक विचित्र बात यह है कि प्रत्येक अङ्क का अन्त नये ढंग से हुआ है।

प्रथम अङ्क के अन्त में लिखा है—

"इति श्री सुधातरंगिण्यां शकुन्तलानाटके प्रथमोङ्कः।

इससे यह धारणा होती है कि यह पुस्तक सुधारतरंगिणी का अंश है।

दूसरे अंक के अन्त में लिखा है—

"इति श्री शकुन्तलानाटके द्वितीयोङ्कः।

तीसरे अंक के अन्त में है—

"इति श्री शकुन्तलानाटककथा तृतीयोङ्कः।

और, चौथे के अंत में है—

"इति श्री शकुन्तलानाटकथा चतुर्थोङ्क सम्पूर्णम्।"

इन सब उद्धरणों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि यदि ये सब लेखक ने लिखे हैं तो उसने यह ध्यान नहीं दिया कि उसका वाक्य मूल पुस्तक के उद्देश्य और उसकी भावपूर्ण अभिव्यंजना से मेल भी खाता है या नहीं। और यदि ये पंक्तियाँ किसी लिपिकार की हैं तो इस क्रमहीनता में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि लिपिकार प्रायः अध-पढ़े होते हैं और अपने मतानुसार पुस्तक का अन्त कर देते है। जब उसे ध्यान आ गया कि पुस्तक 'नाटक' का रूपान्तर है उसने 'शकुन्तला नाटक' लिख दिया और जब पढ़ते पढ़ते यह विचार हो उठा कि यदि यह 'नाटक' न होकर 'नाट्यकथा' है तो उसने वैसा लिख दिया।

नोटः—पुस्तक में दी हुई छंद संख्या के क्रम में भी कहीं कहीं अन्तर है।

६. सभा सार

(ले० का० सन् १७०० ई०)

इस नाटक के लेखक रघुराम नागर हैं जो अहमदाबाद के रहने वाले थे। बा० ब्रजरत्नदास के अनुसार इस नाटक की रचना सन् १७०० में हुई थी। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इन लेखक का कोई उल्लेख नहीं किया है।

प्रस्तुत विवरण उदयपुर राज्य के 'सरस्वती भंडार' की मूल हस्तलिखित प्रति की सरकारी प्रमाणित प्रतिलिपि के आधार पर दिया जा रहा है। मूल प्रति सन् १७६२ की लिखी हुई है जैसा उसके अन्त में इस उल्लेख से प्रतीत होता है :

"इति सभासार नाटक संपूर्न समापत। संवत् १८१६ वर्षे फागुण सुदी १४ शनिवासरे महाराजाधिराज महाराणा श्री अरसीह जी विजेराज लिख्यत, सहा सूरजमल हरपालोत श्री नगर उदयपुर मध्ये।"

पुस्तक का आरम्भ सरस्वती 'सचर, अचर, सब ठाय में व्यापक, जुदे जुदे नाम वाले' ईश्वर और गुरु की वंदना से होता है। लेखक ने अपने उद्देश्य का वर्णन पहले दोहों में जो पुस्तक की क्रमिक संख्या का छठा और सातवाँ छंद हैं इस प्रकार किया है :—

ज्यों सब सङ्गति जानिये, प्रभु सों कहो पुकार।
सकल सभा वर्णन कहूँ, नृपति आदि निरधार ॥६॥
सब लछिन पहले सुनों, पुन्य सुसङ्गति पाइ।
मन चंचलता जानि जग, नीच सङ्ग न सुहाइ ॥७॥

अतएव स्पष्ट है लेखक 'लक्षणों' का वर्णन कर उसके आधार पर अच्छे और बुरे की पहचान बताना चाहता है। इन लक्षणों के लिए किसी भी व्यक्ति की 'सङ्गति, स्वभाव, जाति, गाँव (स्थान) तथा उसका धंधा' आदि जानने और देखने की परम आवश्यकता है। किसी का मूल्य आँकने के लिए सब से अच्छी कसौटी अपना या किसी का काम पड़ने पर व्यक्ति का व्यवहार है। लेखक के शब्दों में—

संगति सुभाव ज्ञाति गाँव को विचारि करि,
उद्यम सुहाय सुनि देखि उर आनियें।

जानि के कुलछिन सुलछिन सकल विधि,
नेननि में रूप देखि बेंन पुनि छानियें।
मोल तोल माप बिनु भारी है परिछा जाकी,
सरस कसोटी परें काज की बखानियें।
कीमत अपार तेज रूप के प्रकार जामें,
नर से अमोल नग ऐसे पहिचानियें ॥८॥

उसके पश्चात् लेखक ने 'राज वर्णनम्' किया है।

करि एड़ीय राजी कटक, सद प्रधान करि सोप।
सर अछर सब साधि नृप, चतुर राज की चोप ॥१०॥
नेत्र स्रवन पाताल पति, स्रवन नेत्र महि घाल।
चार नेत्र चहिये चतुर, सुर उर भाल बिसाल ॥११॥
पंच नेत्र ए नृपति के, धुर सुगन्ध सो धोइ।
राजनीति अञ्जन करे, तो मद अंध न होइ ॥१२॥

तथा :

पुन्य सील प्रजापाल न्याउ प्रतिपछि न कोई,
कर सोपे अधिकार, आप सम जाने सोई।
रस भाषा रस निपुनि, सत्रु उर में नित साले,
जो जिहि लायक होइ ताहि तैसी विधि पाले।
सुख करन भयरु सागर सरिस रत्न ग्राह लीये रहे।
लछिन अनंत महिपाल के सुबुद्धि प्रमान कविवर कहे ॥१३॥
सभा समुद्र अपार गुन पय ओगुन नीर जिम।
'राजा' हंस विचारि, करे सु देखे काढ़ि कै ॥१४॥

इस प्रकार राजा के लक्षणों का वर्णन कर कवि क्रमशः अनेक प्रकार के व्यक्तियो और कभी कभी उनके धर्मों और कर्मों का वर्णन करता है। मुख्य वर्णनों में "स्वामिधरम, गमखाइक (गम खाने वाला), कपटी, बेवकूफ, ग्रानतदार, गाफल, हरामी, चोर, फूटे, सभाचतुर, सभा बिगार, वार्ता बिगार, हस्त चांडक, बात-सुभ, मुनसी, उग्रदाता, विवेकी-दाता, लबार, दातार, कलि के दातार, चींठ दातार, खवीसदाता, सूम, लालची, कुकवि, सूरकवि, कायर, मुतफन्नी सूर, सदरी मीत, कसवाति मित्त, धीरज, अधीर, लड़ाक, मसखरा, बेग्रानत, कोटवाल, चुगल, ठग, ठगविद्या, नारी चरित, धर्मठग, परोपकारी, दुष्टमंडली, प्रगट दुष्ट, महादुष्ट, दगाबाज, सत्यवादी, लापर उडाए (वेपर की उड़ाने वाले), खुसामदी, गरजू, बेमुरव्वत, लज्जा, निर्लज्ज, उछल ताक, हिमायती, माथामल, गुनागुन गुन, माथा सूल, गंभीर, बाल बुद्धि, फूटो ढोल, बलध, मूरख, पोस्ती, उद्धत, विरही, परतिय-

गामी, गुंडा, चिकनिया, नास्तिक, आस्तिक, अयाची तथा खुस मसखरा आदि हैं।

इन वर्णनों को पढ़कर जो प्रायः दोहा, छप्पय या कवित्त में ही लिखे गये हैं ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने अपना ग्रन्थ कल्पना के आधार पर न लिखकर, जैसा प्रायः कवि किया करते हैं, सांसारिक अनुभव पर उसकी रचना की है। कुछ नामकरण तो बिलकुल ही नये हैं। यह एक प्रकार का नीतिजन्य 'नायक-नायिका भेद' है।

'सभासार' नाटक न होकर छंदोबद्ध नीति की पुस्तक है। इसमें केवल एक पात्र है जो सब कुछ कहता है और वह पात्र स्वयं कवि है। पुस्तक का विभाजन तक किसी प्रकार नहीं किया गया न अंकों में न किसी प्रकार के अन्य प्रकरणों में। वह आरम्भ से अन्त तक एक ही साँस में लिखी गई प्रतीत होती है। समझ में नहीं आता बा० व्रजरत्न दास जी ने किस आधार पर यह लिख दिया है—

"कथोपकथन के रूप में चुगल आदि के लक्षण पद्य में कहे गए हैं और इसी कारण यह नाटक कहा गया है।[1]

उक्त पुस्तक में जब कोई अन्य पात्र ही नहीं तो 'कथोपकथन' का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है।

रही यह बात कि इस पुस्तक का नाम *'सभासार'* क्यों पड़ा और यह नाटक क्यों कहलाया? इसी विषय में पहले प्रश्न का उत्तर तो स्पष्ट है। पुस्तक का विषय संसार-सभा मे पाये जाने वाले विभिन्न व्यक्तियों के लक्षण वर्णन करना है अतएव वह इस सम्बन्ध की अनुभूति का 'सार' है, तथ्य है। लेखक ने स्वयं अपनी पुस्तक को नाटक कहा है—'अथ सभासार नाटक लिख्यते।' इसका कारण, अनुमान से, यह प्रतीत होता है कि लेखक सारे संसार को नाट्यभूमि मानता है और इसी कारण उसके विभिन्न पात्र अपना अपना अभिनय इस नाट्यशाला में करते हैं और चले जाते हैं। संभव है इस का कारण एक यह भी हो कि परंपरा से 'नाटक' में काव्यत्व अर्थात् कविता को

---

१. हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ५७।

प्रधानता चली आई है। अतएव नाट्यशास्त्रान्तर्गत 'नाटक' के अभि-प्राय से अनभिज्ञ लेखक ने अपनी छंदोबद्ध रचना को भी नाटक कह कर प्रसिद्ध करना चाहा हो।

'समासार' नाटक नहीं है और नाटकों की सूची में उसकी गणना करना प्रमादात्मक है।

७. आनन्द-रघुनन्दन

(ले० का० १६६१—१७४०)

इस नाटक के लेखक रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह जू देव (सन् १६६१—१७४० ई०) हैं। इसके सम्बन्ध में लेखक ने केवल दो उल्लेख किए हैं—

१. "श्री जैसिंह भुवाल विधिपति सुत विसुनाथसिंह जेहि नाऊँ।
सो नाटक आनन्द रघुनन्दन भाषा रचिहै आउ पढ़ाऊँ॥"

२. "जौ लौं कीरति चलै तिहारी
तौ लौं चलै नाथ यह नाटक सुनि सब होइ सुखारी॥
जो यह कहै लहै धन धानिहुँ अन्त सुमति तेहि होवै।
विश्वनाथ को प्रगट रहिय तन सुभग तिहारो जोवै॥"

दोनों उल्लेख सूत्रधार के शब्दों में हैं। पहला प्रस्तावना के बाद का है और दूसरा भरत-वाक्य के रूप में रामचन्द्र जी द्वारा दिया गया वरदान है।

इन दोनों से नाटक के रचना समय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। केवल इतना अवश्य मालूम हो जाता है कि उसके लेखक विश्वनाथ-सिंह जी विध्याधिपति श्री जैसिंह जी के पुत्र हैं और उनकी यह अभि-लाषा है कि जब तक राम गुणगान संसार में होता रहे तब तक प्रस्तुत नाटक का भी अस्तित्व बना रहे तथा उसके पढ़ने पढ़ाने वाले धन धान्य से सम्पन्न रहें।

नाटक की रचना सात अंकों में हुई है जिसकी कथा इस प्रकार है—

परिचय

प्रथम अंक—आरम्भ में प्रस्तावना और विष्कम्भक हैं। प्रस्ता-

चना में लेखक प्राचीन संस्कृत प्रणाली के अनुसार मंगलाचरण और नान्दी पाठ आदि कराता है और सूत्रधार से कहला देता है कि आज सभा में खेलने योग्य उसे 'आकस्माद अनुपम नाटक मिलैगो।' यहीं पर प्रस्तावना समाप्त होती है। तत्पश्चात् एक पत्र ले कर "भाव" प्रवेश करता है और सूत्रधार को दे देता है। यह पत्र त्रिकालज्ञ आदि कवि का है। गुरु ने आशीर्वाद देने के उपरान्त उसे (सूत्रधार को) सद्बुद्धि प्राप्त होने के लिए कहा है और फिर प्रभु के अवतार लेने के समय उसके खेलने का आदेश दिया है। इसी विष्कम्भक में गुरु सहित अन्य शिष्यों का प्रवेश कराकर उनके द्वारा सूत्रधार को *आनन्दरघुनन्दन* नाटक की सिद्धि दिखाई है। उसी समय नेपथ्य से मङ्गल कोलाहल होता है और महाराज दशरथ के घर में पुत्र जन्मोत्सव पर वधाई गाई जाती हुई सुनाई देती है। उसे सुनकर मुनि भी अपने शिष्यों सहित अयोध्या की ओर गमन करते है। यही विष्कभंक है।

[इन दोनों अंशों में कुछ संशय उत्पन्न करने वाली बातें भी हैं। प्रस्तावना के पश्चात् सूत्रधार को जो पत्रिका मिलती है उसके अन्त मे लिखा है 'आउ पढ़ाऊँ।' इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। यदि यह पाठ ठीक है तो इसका अर्थ होना चाहिए "तुम आओ और मैं *आनन्द-रघुनन्दन* नाटक तुमको पढ़ा दूँ।" यदि यह ठीक है तो इस कथन की आवश्यकता समझ में नहीं आती। हाँ यदि इसके स्थान पर 'आउ बढ़ाऊ' पाठ होता तो अर्थ यह निकाला जा सकता था कि यह नाटक आयु बढ़ाने वाला है। फिर इस पत्र को पढ़ने और भाव से 'वाहवा वाहवा! ऐसे समय भली चीठी दई' कहने के पश्चात् सूत्रधार रंगमंच से चला जाता है। उसके जाने पर शिष्य (?) प्रवेश कर गुरु जी (?) के आने की सूचना देता है और उनको वेषभूषा का एक कवित्त द्वारा वर्णन करता है। पता नहीं चलता गुरु जी कब मंच पर आ जाते हैं क्योंकि इसका कोई निर्देश नहीं है। हाँ कवित्त समाप्त होते ही सूत्रधार फिर मंच पर प्रवेश करके गुरुजी को दंडवत् प्रणाम करता है और गुरुजी 'वत्स चिरंजीव' कहकर उसे आशीर्वाद देते हैं। सूत्रधार उनकी भेजी हुई पत्रिका का उल्लेख करता है और *आनन्द रघुनन्दन* नाटक को

पढ़ने की इच्छा प्रकट करता है। मुनि जी (वास्तव में गुरु शब्द का प्रयोग होना चाहिए था) उत्तर देते हैं 'वत्स भली कही, पढ़ि ही लेहु।' और बिना पढ़ाये या उसका अभिनय किए ही शिष्य (वास्तव में सूत्रधार) कहता है 'आपु प्रसाद अनूपम नाटक मोकों आयो।' इस प्रकार नेपथ्य में मंगल कोलाहल से पहले की घटनाओं का वर्णन है। सूत्रधार के स्थान पर शिष्य और गुरु के स्थान पर मुनि शब्दों का प्रयोग भ्रम उत्पन्न कर देता है जिसके कारण स्वतः प्रश्न उठने लगता है कि ये नए पात्र कौन हैं और इनकी उपयोगिता क्या है ?"]

विष्कभंक के बाद मंत्री का प्रवेश होता है और वह महाराज दशरथ के आने की सूचना सब को देता है। महाराज प्रवेश करते हैं और मंत्री राजा से चारों राजकुमारों के नाम पूछता है जिसे वह एक कागज पर लिखकर बता देते हैं। सभासद नामों को सुन कर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। फिर भाट, नट, विदूषक, नर्तक आते हैं और अपनी अपनी कला दिखाकर सब को प्रसन्न करते हैं। राजा उन्हें मनोवांछित इनाम देने की आज्ञा देकर पुत्रों को देखने के लिए महल की ओर जाते हैं। राजा के जाते ही महारानी सखियों सहित प्रवेश करती हैं। सभा में होने वाले सङ्गीत नृत्य आदि की चर्चा होती है कि सखी महाराज के आने की सूचना महारानी को देती है। महाराज प्रवेश करते है और क्षण भर बाद ही कह कर चल देते हैं कि "कछु राजकाज के हित मंत्री हमैं परिखे हैं।" रानियाँ एक पद द्वारा राजकुमारों के किशोर होने की सूचना देती है और तत्काल ही "खण्ड महाराज" प्रवेश करते है और महारानियों को कहते हैं कि राजा ने चारों कुमारों को बुलाया है। फिर कुमारो के साथ बाहर चले जाते हैं और रानियाँ कुमारों को देखने के लिए झरोखों में चलने के लिए कहकर मंच से चली जाती हैं। राजा फिर अपने अमात्य सहित प्रवेश करते है और कहते हैं कि पुत्र अब विवाह योग्य हो गए। मंत्री भी उत्तर देता है—"महाराज हों अरजई करनहार हुतो।" उसी समय गुरु (वशिष्ठ) जी के आने की सूचना द्वारपाल देता है। राजा उनका स्वागत करने के लिए आगे बढ़ते है। वशिष्ठ जी विश्वामित्र जी के शीघ्र ही आने का समाचार

राजा से कहते हैं और उन्हें यह भी उपदेश दे देते हैं कि रामचन्द्र जी को उनके माँगने पर मना न करना। वशिष्ट जी समझा ही रहे थे कि विश्वामित्र जी आगए और दोनों राजकुमारों को यज्ञ-रक्षा के लिए माँग ले गए। अंतःपुर में रुदन होने लगा और गुरु समेत राजा उन्हें सान्त्वना देने महल में गए।

मार्ग मे विश्वामित्र और दोनों राजकुमार चले जा रहे हैं। सोने के समय सो जाते हैं और उठने के समय उठ जाते हैं। ताड़का-वध कर मुनि के आश्रम में पहुँचते हैं। परन्तु आश्रम में पहुँचने के पहिले ही राक्षस बड़ा ऊधम करते हैं। विश्वामित्र सोच में पड़ जाते हैं परन्तु राम लक्ष्मण सब राक्षसों को मार कर आश्रम-वासियों की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। इस समाचार से विश्वामित्र को बड़ी प्रसन्नता होती है। दोनों भाई सेवकाई सौंपने के लिए कहते हैं। विश्वामित्र उन्हें मिथिला चलने का आदेश देते हैं और सब एक साथ रवाना हो जाते हैं। मार्ग में अहिल्या-उद्धार होता है। जनकपुरी मे राजा जनक सब का स्वागत करते हैं। विश्वामित्र जी धनुप दिखाने के लिए कहते हैं। उसी समय सहस्रार्जुन और रावण के आने का भी समाचार मिलता है। दोनों की आपस में नोक झोंक भी हो जाती है। सहस्रार्जुन पिनाक को नमस्कार कर चला जाता है और रावण आकाश में यह वाणी सुनकर कि मधुनामा दैत्य उसकी कुंभीनसी कन्या को हर कर लिये जा रहा है वहाँ से चल देता है। इस प्रकार दोनों के प्रस्थान के पश्चात् और यह विघ्न टल जाने पर विश्वामित्र राम से धनुप-भंजन के लिए कहते हैं। धनुप टूटने पर सीता सखियों सहित आती हैं और राम के गले में जयमाल डालती हैं। सतमोद के साथ सीता महल मे चली जाती हैं और राजा जनक विश्वामित्र आदि से यह कहकर कि 'गुरु आप महाराज दशरथ को पत्र भिजवायें' वहाँ से मण्डप की तैयारी के लिए चल देते हैं। फिर विश्वामित्र भी राजकुमारो के सहित प्रस्थान करते हैं।

मंच पर राजा दशरथ प्रवेश करते हैं, और राजमंत्री से राम लक्ष्मण का कोई कुशल समाचार न मिलने की चर्चा होती है। इसी

समय धनुष-भंग का समाचार लेकर मिथिला से दूत आया है। भरत उस पत्रिका को लेकर अन्दर महल में सुनाने जाते हैं। नेपथ्य में मङ्गल-गान होता है और राजा दशरथ भी वहाँ से चल देते हैं। मार्ग में वशिष्ठ जी मिलते हैं। समाचार सुनकर प्रसन्नता होती है और राजा बरात के प्रस्थान की शुभ-घड़ी के लिए उनसे पूछते हैं और बरात के चलने की तैयारी होती है। सब का प्रस्थान हो जाता है। तत्काल रंगमंच पर जनक प्रवेश करते हैं और अपने मंत्री से बरात के आगमन के सम्बन्ध में उत्सुकता पूर्ण प्रश्न करते हैं। राजदूत अयोध्या से लौट कर पत्र का उत्तर देता है। फौरन ही राजा जनक को बरात के निशानों का शब्द सुनाई पड़ता है और वे सब अगवानी के लिए जाते हैं। बरात का आगमन होता है और विवाह सम्पन्न कराया जाता है। विदा का समय होता है और परशुराम जी के आगमन का समाचार मिलता है एक बङ्गाली शिष्य के द्वारा। परशुराम प्रवेश करते हैं। पहले राम के दल और सेना के विषय में पूछते हैं और फिर क्रोधित होते हैं। राम और परशुराम में कुछ बातचीत होती है। परशुराम के गर्व का मर्दन होता है।

सब अयोध्या में आते हैं और आगमन के अवसर पर पुर में उत्साह प्रकट होता है। पुरोहित जी वधुओं और पुत्रों को देव दर्शन करने के बाद सुलाने की आज्ञा देते हैं।

दूसरा अंक—(आश्रम में) वशिष्ठ और शिष्य के संवाद से आरम्भ होता है। थोड़ी सी ही देर में गंगा प्रवेश करती हैं। उसी समय आकाशवाणी होती है—"मोको बानी की बानी यौं सुनी परी—तुम दिग्गजान पैं जाय डहडह जगकारी डिंगीदर कों काश्मीर को पठवाइयो औ उपाय करि भूप सों हितकारी को युवराजपद दिवावत बन दिवाइबो। अरु हितकारिहू को याही रुख है। हौं कुटिला के कंठ बैठि सुरकाज सिद्ध करन जाउँ हो। पुत्री तु अब तुम जाहु। हौंहू मातु आज्ञा करन जात हों।" तत्पश्चात् आदि कवि और शिष्य प्रवेश करते हैं। शिष्य गुरु को सूचना देता है कि गंगा और जमुना आपस में बातचीत कर रही थीं कि कैकेयी के कहने से दशरथ ने राम को बनवास दिया और भरत को राज। इस पर मंत्री

रथ पर चढ़ा कर उन्हें त्रिपथगा के तीर तक छोड़ कर अयोध्या वापिस आ गए और वहाँ राजा की मृत्यु हो गई। इस समाचार पर आदि कवि ने शोक प्रकाशित किया। शिष्य कहने लगा, गंगा के पूछने पर यमुना ने कहा कि 'याज्ञवल्क्य द्वारा सत्कारित हो राम मेरे पार उतर गए। अब आगे का समाचार मुझे मालूम नहीं' यह समाचार सुन वाल्मीकि जी कहने लगे तब तो राम यहाँ आते ही होंगे। नेपथ्य से राम लक्ष्मण और सीता के वन पथ का समाचार मालूम होने लगा क्योंकि वनवासी उनसे बातचीत कर रहे थे। और बस राम सीता सहित मंच पर प्रवेश कर गए।

आश्रम में राम आदि का सत्कार हुआ। त्रिकालज्ञ वाल्मीकि जी से राम ने भरत अयोध्या का समाचार पूछा और मुनि ने ध्यान लगाकर बताया कि भरत शत्रुघ्न सहित वहाँ पहुँच गए हैं "और वृत्तान्त सब कछु दिन में आय वेई कहेंगे।" तत्पश्चात् रामचन्द्र जी विचित्र शिखर (चित्रकूट) को गए।

दृश्य बदला। मंथरा सहित कैकेयी भरत से बात कर रही है और भरत नाराज़ हो रहे हैं। शत्रुघ्न ने मंथरा को ख़ूब मारा। माता कौशल्या से भरत ने क्षमा माँगी। भरत को बड़ा दुख हुआ परन्तु वशिष्ठ जी ने धैर्य बँधाया। चित्रकूट जाने की तैयारी हो गई।

इधर लक्ष्मण ने कुटी बनाई। सब वहाँ जीवन व्यतीत करने लगे। एक दिन इन्द्र का पुत्र जयन्त वायस का रूप धारण कर वहाँ आया। राम ने उसकी दुष्टता के लिए अपना बाण मारा। जहाँ-जहाँ वायस गया बाण उसके पीछे था। अन्त में आकर राम की शरण पकड़ी और एक आँख देकर छुटकारा पाया। फिर भरत मिलन हुआ। माताओं से राम की भेंट हुई और राम ने सब को विदा किया। भरत उनकी खड़ाऊँ लेकर अयोध्या को लौटे। राम, सीता बंधु सहित अगस्त्य और अनसूया के आश्रम में पहुँचे। रात वहीं व्यतीत की।

तीसरा अंक—मैत्रावरुणि और शिष्य संवाद: शिष्य द्वारा सूचना कि राम आपके आश्रम में आने वाले हैं। राम का प्रवेश, मैत्रा-वरुणि द्वारा सत्कार और मुनि का राम को अक्षय तूणीर तथा अभेद्य

कवच प्रदान करना और जटायु से मिलने के लिए कहना।

जटायु से राम की भेंट; उसके द्वारा उनका सत्कार; जटायु का आदेश सीता को सावधानी से रखना तथा पंचवटी में रहने के लिए उनकी सलाह। पंचवटी में कुटी का बनाना; प्रकृति वर्णन; कुशल समाचार लाने के लिए माता कौशल्या के भेजे हुए दूत शुक का प्रवेश और अपनी कुशल सूचना दे राम का उसे वापिस भेजना; शूर्पणखा की नाक कान का काटा जाना, रासभ राक्षस का वध, देवताओं द्वारा पुष्प वृष्टि और मैत्रावरुणि का प्रकट हो कर कहना 'अब मैं आश्रम को जा रहा हूँ।'

शूर्पणखा का रावण के पास जाना; रावण का क्रोध परन्तु साथ ही साथ यह भी कहना—"जान्यो जान्यो चक्र चलाय चक्रपानि मेरे काय की कठिनता जानि नरनारायण रूप तें श्रीसङ्ग वानप्रस्थ धर्म ठानि, जय हेत बन निकेत किये हैं।" उसका यह भी कहना—"रासभ मो· सम बली अगार तासु संहार-करन हार बिन परम ईश कौन होइ। जो भक्ति-पंथ चलौं तौ दुरगम दिरंग वारी है। ताते उनके शर-मग मुक्ति सकुल हालई लेउँ।" फिर सीता का हरण करने की मंत्रणा और निश्चय, मारीच का प्रवेश, मृग बनने के लिए उसे रावण का मजबूर करना।

लक्ष्मण का आखेट को जाना; राम का सीता को आदेश—"महिजा! छाया महिजा इति राखि दिगशिर वधांत अग्नि में रहो।" तत्पश्चात् विचित्र मृग का प्रवेश, राम का उसके पीछे जाना; सीता-हरण; जटायु का रावण से युद्ध; राम-विलाप, सीता की खोज, जटायु की सद्गति, तपस्विनी किराती शबरी का आतिथ्य सत्कार और उसकी मुक्ति तथा राम को सुग्रीव का पता बताना; सुग्रीव के स्थान के लिए राम का प्रस्थान।

चौथा अंक—मंत्री सहित सुग्रीव की चिन्ता; हनुमान जी द्वारा सुग्रीव के साथ राम-लक्ष्मण की भेंट और मित्रता; वाली और मंत्री का वार्तालाप; रावण द्वारा भेजी गई वालि के नाम पत्रिका जिसमें लिखा था—

"............हमारी ? अज्ञा लिखियोई नहिं कियो

है। एकै राजकुमार बलवानन मारन मन धरि, तुम्हारे निकट के वन पयान करि सदल रासभ के प्रान हरि लीन्हें हैं। पकरि मेरे पास पठाय दीजिवो।"

फिर बालिवध होता है और सुग्रीव का राजतिलक कर अंगद को युवराज बनाया जाता है। वर्षा के आगमन से शरद पर्यन्त सीता की खोज छोड़नी पड़ती है। उसमें सुग्रीव की असावधानता देखकर राम क्रुद्ध होते हैं; सीता की खोज के लिए सेना का प्रस्थान और हनुमान को राम का अपनी मुद्रिका देना।

द्रविड देश की पर्वतगुहा में रहने वाली एक तपस्विनी का सेना द्वारा राम का आगमन सुन उनके दर्शनार्थ जाना और राम को वानरों के अपने देश तक पहुँचने का संवाद देना; संपाति का राम को कहना—

"महाराज तिनकौ मै संदेहित देखि राक्षसपुरी में महिजा को बतायो। सब मेरे वचन सुनि सिंधु पर जायवे में अशक्य देखे परे। तब ध्यानस्थित त्रेतामल्ल पास रिच्छपति जाय, वृत्तान्त जनाइ, महाबल सुधि देवाई। त्रेतामल्ल उर उत्साह भरि, दीह देह धारि, लंगूर महि मारि, कह्यो पुकारि—

कहौ तो उठाय दीप बौरों बीच बारिध में,
कहो दिगसीस सीस रोसि नोचि डारहूँ।
कहो मुष्टि कूटि कूटि रेनुकै त्रिकूट आजु,
गगन उड़ाय कै तमासो सो पसारहूँ।
कहो क्रोध भार भूँजि भूँजि भूरि राक्षसानि,
सोई खाख धारि देह रुद्र रूप धारहूँ।
कहो तो लपेटि लूम ल्याऊँ कुलि वाको कुल,
आगे हितकारी ही के मीजि मीजि मारहूँ॥"

रिच्छराज कह्यो,—तुम सब करन लायक हौ। अबै जो आज्ञा भई है सोई करौ। या सुनि उछलि पार ही परयो।'

यह सब समाचार सुन राम संध्या-वन्दन के लिए चले गए।

पाँचवाँ अंक—रावण का स्वप्न—एक वानर का आना और शिंशुपा के नीचे छिपकर सीता को देखना,—रावण का तत्काल ही उठकर वहाँ जाना और सीता को भय दिखाना; प्रातः होते ही अपने स्वप्न और कार्य व्यापार का मंत्री से कहना, मंत्री पूछने लगा—'तो जागि रातिहीं दुख देन काहे गये।' रावण का उत्तर—'जाते वाकी दशा देखि दूत खबरि दै हितकारी को आंसुहीं ल्यावै।'

लंका राक्षसी का प्रवेश और रावण को वानर-प्रवेश का समाचार देना और कहना—'महिजा जहाँ रही सो थल भय सों बताय दियो। औ तुमसों कहौं हो—हितकारी परम पुरुष हैं। जो जीवन चाहौ तो महिजा को लै शरण जाउ।' वाटिका-पाल का आकर बाग के विध्वंस की सूचना देना और रावण का उसे पकड़ने की तदबीर करने के लिए कहते कहते प्रस्थान।

हनुमान का प्रवेश, नेपथ्य में उसे पकड़ने और युद्ध करने का कोलाहल; नयनकुमार का युद्ध और उसकी मृत्यु; मेघनाद का प्रवेश और युद्ध और ब्रह्मास्त्र द्वारा हनुमान का बंदी बना कर रावण के सामने लाया जाना और उनका कहना—'मोको तिहारे बंधु सुगल ने पठायो है। या कह्यो है हमको हित चाहै हैं जो कोई अनीति करै है ताको विनाश वेगहि होइ है। तुम हितकारी की नारी हरी है सो दै राखो। तुम्हारे तौ वेद शास्त्र सब जाने है। बहुत समुझन बारे सो बहुत कहे तें का है।' सब सुन कर रावण द्वारा हनुमान को दण्ड, पूँछ में आग लगाना, लंकादहन; पूँछ बुझाकर हनुमान का सीता के पास जाना और उनकी चूड़ामणि लेकर अपने साथियों की ओर प्रस्थान।

समुद्र पार कर वापिस साथियों से मिलना, सबका आनन्द-मग्न होना, सुग्रीव के पास आगमन; प्रसन्न हो वानरों का सुग्रीव के बाग के फल खाना; माली की शिकायत सुनने पर ध्यान न देना; हनुमान द्वारा राम को सीता का समाचार देना; चूड़ामणि का देना और सबके उपरान्त शत्रु सेना के बल के सम्बन्ध में राम की हनुमान से पूछताँछ, सेनासहित अभियान; राक्षसपुरी के समीप डेरा; विभीषण का शरण में आना और राम का उसी क्षण—

'सुगल जलनिधि जल ल्यावो। इनको राक्षसपुरी को तिलक याही क्षण करौं।'

राम का समुद्र से मार्ग माँगना; तीन दिन तक विफल प्रयास, लक्ष्मण का क्रोध, फिर राम का क्रोध; समुद्र का प्रकट हो क्षमा प्रार्थना करना; सेतु बंधन।

राम-द्वारा शिवलिंग की स्थापना और समुद्र पार जाना।

छठा अंक—राम की सेना द्वारा सागर उतरने का समाचार रावण को मिलना और इस पर रावण का आश्चर्य; कीर नामक राक्षस से रावण का पूछना "अरे लखाउ हितकारी कौन हैं ?" कीर का उत्तर—"महाराज जाकी काय में कोटि मरकत मनि कांति पेखी परे है सोई त्रिभुवन में एक धनुधारी हितकारी है।" इस पर रावण सक्रोध कहता है—"अरे मोकों डरवावै है, भागु दुष्ट ह्याँते।"

संध्या के समय सेना का विश्राम; प्रातः अंगद का रावण की सभा में जाना और पद-स्थापना आदि ; रावण का उसे बाँधने की आज्ञा देना; चार राक्षसों को मारकर अंगद का प्रस्थान।

राम-विभीषण की मंत्रणा : रावण के व्यूह की विभीषण द्वारा राम को सूचना और राम की सेना का भी व्यूह बंधन।

कुनमन और अचल का हनुमान द्वारा, कुलिशरद का अंगद द्वारा और रावण-सेनानी का राम-सेनानी द्वारा वध ; युद्ध में सुग्रीव और लक्ष्मण की मूर्च्छा एवं राम की चिंता; हनुमान का ओषधि लेने जाना, अयोध्या की खबर भी लाने के लिए राम का हनुमान से कहना; ओषधि का आना और लक्ष्मण का जीवित होना; भरत के बाण द्वारा जल्दी आने तथा अयोध्या के सब समाचार का राम से कहना।

लक्ष्मण द्वारा कुंभकर्ण की मृत्यु , निकुंभला यज्ञ को भंग करने के लिए लक्ष्मण का जाना; रावण का विभीषण पर शक्ति-प्रहार परन्तु बीच ही मे उसे राम का रोक देना; सुरपति द्वारा भेजे हुए रथ का राम को मिलना, राम-रावण युद्ध; रावण का वध और उसी तीर का राम के तूणीर में वापिस आना; सबकी प्रसन्नता।

सीता का हनुमान के साथ प्रवेश, राम का कहना कि सीता पर्दा न करो।

पुष्पक विमान में बैठ अयोध्या को प्रस्थान और हनुमान को खबर देने के लिए राम का उन्हें पहले भेजना।

सातवाँ अंक—भरत का वशिष्ठ जी को बुलाने भेजना और उनका स्वयं आगमन; हनुमान का उसी समय राम-आगमन का समाचार देना; माताओं को इसकी सूचना और आते हुए राम का आकाश

में दिखाई देना।

राम का आगमन और वशिष्ठ का कथन—'चलो अपराजिता को तुम्हारे तिलक को आजुहि सुदिन है।' तत्पश्चात् राम का अभिषेक; मैत्रावरुणि का आना और राम के सब सहायकों का परिचय देना; तत्पश्चात् प्रस्थान।

सभा में नृत्य आरंभ होता है—उर्वशी, सुकेशी, मेनका, रंभा, मंजुघोषा, तिलोत्तमा, घृताची, कलकंठी, आनन्द लतिका, मदन-मंजरी, अनंग-सुन्दरी, चंचलाक्षी, शशिप्रभा, चन्द्रकला, चंचला, शशिकला, कलावती, विलासवती, चन्द्रलेखा, कुन्द-दन्तिका, नव मल्लिका, कनक-सुंदरी, अनुरागिणी, रत्नकला, काममंजरी, रूपमंजरी, चित्रलेखा, प्रभावती, पद्मावती, कलहंसी, चंपकप्रभा, लीलावती, अनंगसेना तथा रसालमंजरी आदि अप्सराओं एवं गन्धर्व का गान होता है; तत्पश्चात् सब खूब इनाम पाकर जाती हैं और गुरुण्ड देश का नर्तक नाचकर अंगरेजी मिश्रित गाना गाता है; फिर क्रमशः अरब देश वासी, तुरुष्क देश वासी और मरुदेशीया वार वधूटी गाती हैं।

राम अपने भाइयों को राज, कोष तथा सेना की 'ततबीर' करने का आदेश देते हैं; अन्त में सूत्रधार का प्रवेश होता है। उसका नाच गान होता है, प्रसन्न होकर राम उससे कुछ माँगने को कहते हैं; सूत्रधार कहता है—

> छूटै मनमलीनता सारी कामादिक मिटि जाहीं।
> होय विवेक नसे दुख सिगरे गहो आप मम बाहीं॥
> अतिनिर्मल चित ह्वै प्रभु पद में लगै सहित दृग भावै।
> परम प्रेम रघुनाथ आपको विस्वनाथ अब पावै॥

तथा,

> जौं लौं कीरति चलै तिहारी,
> तौ लौं चलै नाथ यह नाटक सुनि सब होइँ सुखारी।
> जो यह कहै लहै धन धानिहुँ अन्त सुगति तेहि होवै,
> विश्वनाथ को प्रकट रहिय तन सुभग तिहारो जोवै।

यह कह कर उसका प्रस्थान होता है; राम भी महलों में चले जाते हैं।

नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटक की कुछ विशेषतायें

१. नाटक की गद्य और पद्य दोनों की भाषा व्रजभाषा है और जो महानुभाव यह मानते हैं कि नाटक-साहित्य के विकास के लिए गद्य साहित्य का सम्यक् विकास नहीं हुआ था उनके तर्क का स्वयं उत्तर है। भाषा बड़ी मँजी हुई और स्पष्ट है। उसमें अनुप्रास अलंकार की छटा भी मिलती है और साधारण बोलचाल की भाषा का माधुर्य भी—

(अ) राजा दशरथ के नाम जनक की पत्रिकाः—

'अनंत श्री महाराज अपराजिताधिराज, सकल महाराजानि-सिरताज जग-लाज को जहाज, गरीब नेवाज, महिमंडल महेन्द्र सुरेन्द्र के उपेन्द्र सम करन काज, यश जागत जहान, केते भान समान प्रतापवान, दान मान सनमान सुजान, ज्ञान प्रेम-निधान, दिगजान भूप भूये ते शीलकेतु भूप की जोहार। आस अनूप कुशल स्वरूप हैं। इत आपकी कृपाहीं कुशल है। भुवनहित मुनि संग, अंग अंग आभा उमंग, अनंग आभा भंग करन हार आपके युगल कुमार आये। हम लोग लोचन लाहु पाये। हितकारी महीपन मद मोरि, महेश-धनु तोरि मही कीर्ति छाई; महिजा पाई। सजि बरात आइये ब्याहि लै जाइये।

(अंक १)

(अ) औषधि लाने के पश्चात् हनुमान का राम से कथन—

'इहाँ ते जाइ, अचल उठाइ आवत, आड़िवे आये अमरन सों समर जय पाय अपराजिता ऊपर आयो। तहाँ डहडह जगकारी होम करत हुतो।' तिन कौनौ विघ्न मानि बान मारयो। मैं 'हा! हितकारी!' कहि महि परयौ।' तब धाइ, पास आइ, अति पछिताइ, बहुत विलाप करने लगे। तब जोनिज आय याही अद्री ले औषधी लै जिआय दियो। तब मैं इहाँ की खबर सुनाइ या कह्यो बान लगे मोमें पराक्रम तैसो नहीं है। तब उन कह्यो मेरे बान में चढ़ि छन ही में जाय। तब मैं बड़ो रूप धरि सैल समेत चढ़्यो।' जब उन श्रवन लागि खैंच्यो तब मै उतरि गर्व त्यागि विनय करी—आप हितकारी के तो भाई हैं या कौन बड़ो आश्चर्य है। अब हौं आपकी कृपै सो छन में पहुँचौगो। या कहि सब की कुशल लहि प्रभुपद पदुम परस्यो आय।'

(अंक ६)

२. नाटक के पात्रों के नाम बड़ी विचित्रता से रखे गए हैं—

राम=हितकारी; भरत=डेहडहकारी; लक्ष्मण=डीलधराधर; शत्रुघ्न=डिंभीकर; दशरथ=दिगजान; अयोध्या=अपराजिता पुरी; कैकेयी=काश्मीरी; विश्वामित्र=भुवनहित; वशिष्ट=जगद्‌योनिज; जनक=शीलकेतु; सीता=महिजा; परशुराम=रैणुकेतु; रावण=दिक्-शिर; मेघनाद=घनध्वनि; विभीषण=भयानक; सुग्रीव=सुगल; बाली=वासव; हनुमान=त्रेतामल्ल; अंगद=भुजभूषण; गंगा=ब्रह्म-कुंडजा; अनुसूया=अनीर्ष्या आदि आदि।

प्रचलित नामावली को छोड़कर यह नूतन नामकरण कुछ विचित्र सा लगता है परन्तु इसमें अधिकतर पात्रों के चरित्र को इंगित कर दिया गया है। संभव है संस्कृत के प्रबोध चन्द्रोदय नाटक वाली संकेत परम्परा का प्रभाव भी इसके लिए उत्तरदायी हो।

३. संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन नाटक में मिलता है। नाटक का आरंभ उसी परिपाटी के अनुसार हुआ है। समस्त नाटक में केवल एक विष्कंभक है और वह भी नाटक आरंभ होने से पहले और प्रस्तावना के बाद।

४. कला की दृष्टि से इसमें कई दोष हैं। समस्त कथावस्तु का अंकों में विभाजन तो ठीक है परन्तु दृश्यों के अभाव के कारण गति, समय और स्थान के समन्वय में बड़ी त्रुटियाँ आ गई हैं। प्रत्येक अंक की कथावस्तु के लिए वही एक घटनास्थल है। उसी पर अयोध्या का दृश्य दिखाया जाता है, वहीं पर ताड़का-वध होता है और प्रत्येक अंक की सारी घटनायें एक के बाद एक वहीं पर होती जाती हैं। दो घटनाओं के बीच जिस समय की आवश्यकता है और स्थान-परिवर्तन को दिखाने के लिए जिस आधार का होना आवश्यक है वह इस नाटक में बिलकुल ही नहीं है। अंकों में क्रम-पूर्वक वर्णन की हुई घटनाओं के सार से इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

कभी कभी स्थिति बड़ी ही हास्यप्रद हो जाती है। पहले अङ्क को लीजिये—विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण मार्ग में चले जा रहे हैं। सायंकाल का समय हुआ फिर प्रातः हुआ। इस समय के कार्य व्यापार को इस प्रकार प्रकट किया गया है:

मुनिः—अर्ध रैनि गई सोवो।

कुमारौ—दंड प्रणाम।

(मुनिः उत्थाय प्रातस्मरणं कृत्वा)

पद—उठो कुँवर दोउ प्राण पियारे।

हिमि ऋतु प्रात पाय सब मिटिगे नभ सर पसरे पुहकर तारे॥
जग वन महँ निकस्यो हरषित हिय विचरन हेत दिवस मस नियारो।
विस्वनाथ यह कोतुक निरखहु रवि मनि दगहु दिसिनि उँजियारो॥

(ससंभ्रममुत्थाय कुमारौ)—भो गुरो दंड प्रणाम दंड प्रणाम। बड़ो आलस्य भयो भोर न जागे।

मुनिः—चलो अस्नान करो। द्वै मंत्र देउँ जातें शोक, मोह, भूख, पिआस, श्रम, आलस्य न होइ।

(स्नात्वा) सहर्षम् कुमारौ—महाराज मन्त्र दीजै।

मुनिः—बला अति बला ये दोऊ विद्या लेउ।

कुमारौ—ये मन्त्र पाय हमको बड़ो आनन्द भयो।

मुनिः—पंथ चलन की बेर होइ है चलो।

इस उद्धरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि कार्य व्यापार की दृष्टि से नाटक में गतिहीनता है कथानक को समाप्त करने की आकांक्षा अधिक है।

एक और उदाहरण है। लक्ष्मण शक्ति लगने के कारण मूर्च्छित पड़े हैं। राम असमञ्जस मे हैं। हनुमान ओषधि लाने के लिए जाते हैं और उसे ले आते हैं। इस सब कार्य को और राम की व्यग्रता को इस प्रकार दिखाया गया है :—

वैद्यकपि—महाराज देवासुर सग्राम में बृहस्पति द्रोनाचल तें औपधी ल्याय देवन जिवावत रहे हैं। सो चौंसठि हजार योजन पर है जो रात्रि भरे में औपधी आवै तो डीलधराधर जीवैं।

त्रेतामल्ल—महाराज मोकों आज्ञा दीजिये। जौ लौं तेजतै लागि मैं सरिसौ फूटै है तौ लौं लयाऊँगो।

हितकारी—जाव, अपराजिताहू की खबरि लेत आइयो।

(त्रेतामल्लस्येति निःक्रान्तः)

हितकारी—देर बड़ी भई, त्रेतामल्ल न आयो; कछू कारण है।

(ततः प्रविशति त्रेतामल्लः)

वैद्यकपि—प्रभो यह तो शैल ही लै आयो। औषधि पौन परसि सकल कपि दल जियो। डीलधराधर औपधि सुँघाये जिये। अहो महा अमोघा

शक्ति हुतो।

पढ़ने पर सब कुछ बच्चों का खेल सा लगता है। नाटक इस प्रकार के कार्य व्यापार से पर्याप्त भरा है।

जहाँ कहीं अतिमानुषिक (Super-natural) शक्ति की आवश्यकता पड़ी है और लेखक उसे क्रिया-रूप नहीं दे सका वहाँ उसने इन घटनाओं की सूचना 'नेपथ्य' में दिला दी है या फिर 'आकाशवाणी' के द्वारा उन्हें सूचित कर दिया है। कहीं कहीं अवान्तर कथा की सूचना किसी पात्र द्वारा यह कहलाकर दे दी है कि 'अमुक पात्रों में यह कथोपकथन हो रहा था।' दूसरे अंक में गंगा जमुना संवाद द्वारा इसी प्रकार का कार्य-व्यापार वर्णित है। चौथे अंक में संपाति द्वारा राम को वानर सेना की जो सूचना दिलाई गई है उसका कारण भी कथा की एकता को सुरक्षित रखना है। विष्कम्भक, प्रवेशक या अंकावतार जैसी वस्तुओं का उपयोग करना लेखक ने उचित नहीं समझा। हिन्दी साहित्य के इस पहले मौलिक नाटक में संस्कृत की परम्परा का अनुकरण न करना बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस मार्ग-प्रदर्शन ने परवर्ती लेखकों के लिए एक नया आदर्श उपस्थित कर दिया। क्या आश्चर्य है यदि भारतेन्दु पर भी इस प्रणाली का प्रभाव पड़ा हो। यह तो निश्चित ही है कि उन्होंने *आनन्द रघुनन्दन* नाटक पढ़ा था और उसका उल्लेख उन्होंने हिन्दी के सबसे पहले नाटकों में किया है।

कुछ नई घटनाओं का समावेश भी लेखक ने किया है—तीसरे अंक में राम के समाचार लाने के लिए कौशल्या द्वारा भेजा गया शुक नाम का दूत और चौथे अंक में द्रविड़ देश की पर्वत गुहा में रहने वाली एक तपस्विनी का सेना द्वारा राम का आगमन सुन उनके दर्शनार्थ आना इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

कविता की उत्कृष्टता नाटक में प्रत्येक स्थान पर अवलोकनीय है। प्रचुरता गीत-काव्य की है जो हिन्दी नाटक साहित्य में एक अपूर्व मौलिक वस्तु है। रामाभिषेक के समय जो ३५ पद गाये गए हैं उनमें नायिका-भेद के उदाहरणों के साथ साथ काव्य की पर्याप्त मात्रा है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(अ) स्वकीया—

या के शील चुवत सो नैनन ।
सकुचत चलति मंजु मुख मोरति, उर अति प्रेम खुलत कछु बैनन ॥
कोनेहुँ पति अपकार गनति नहिं पग परिपरि आपुहि समुझावै ।
विश्वनाथ प्रभु समुझन लायक यह सु किया को अनुपम भावै ॥

(आ) ज्ञातयौवना—

अब उर अंचल मूँदन लागी ।
करि सिगार आरसी निहारति, तजि ख्यालन जोबन रस पागी ॥
निरखत निज अँग अंग लोनाई, आपुहि रीझि जाति मुसक्याई ।
विश्वनाथ यह नृत्य करति है ज्ञात यौवना चरित दिखाई ॥

आदि आदि ।

५. आनन्द रघुनन्दन में एक और विशेषता यह है कि लेखक ने स्थान स्थान के पात्रों के मुख से उन्हीं के प्रान्त की भाषा बुलवाई है। मैथिल मिथिला की भाषा में बोलता है, महाराष्ट्री मराठी में और अरब का निवासी अरबी में। पाठकों के समझने के लिए इन विभिन्न पदों के अर्थ व्रजभाषा में भी दे दिए गए हैं। गुरुण्ड देश का नर्तक एक मिश्रित बोली में गाता है। भाषा पढ़ने पर बड़ा विचित्र सा लगता है। अँगरेजी का प्रभाव तो स्पष्ट ही है—

ए King हितकारी my dear very,
Liberal and brave wish tree
Good spread my sin Top-lord
Good all टैम विसुनाथ of God.

Wish tree = कामना-तरु; Top-lord = lord of lords; टैम = Time.

अन्त में यही कहना चाहिए कि यह नाटक नाटक-साहित्य की परम्पराओं पर और उनके हिन्दी रूपान्तर पर अच्छी प्रकार प्रकाश डालता है।

वास्तव में यही हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक है और इसी से हिन्दी नाटक-साहित्य की मौलिकता-का-श्रीगणेश माना-जाना चाहिए।

विश्वनाथसिंह जी के एक अन्य नाटक की सूचना काशीराज में

संगृहीत हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में है। इसका नाम *गीता रघुनन्दन* नाटक है। प्रतिलिपि सन् १८३३ की है। परन्तु पुस्तक देखने को नहीं मिल सकी अतएव नहीं कहा जा सकता कि दोनों नाटकों में क्या अंतर है और नाट्य-कला की दृष्टि से कौन सा अधिक उत्कृष्ट है।

८. नहुष

इसके लेखक बाबू गोपालचन्द्र थे जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता थे। इसकी रचना सन् १८४१ ई० में हुई थी। इस नाटक की पूरी प्रति का कहीं पता नहीं चलता केवल प्रथम अंक *कवि वचन-सुधा* के पहिले वर्ष के एक अंक में छपा था। स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने उस अंश को सन् १९०५ में प्रकाशित *नागरी प्रचारिणी* पत्रिका, नवें भाग के पृष्ठ १८७ से १९९ तक छपवाया था।

नाटक का आरंभ प्रस्तावना से होता है और उसके पश्चात् प्रथम अंक शुरू हो जाता है। अधिकतर संवाद कविता में है परन्तु यथास्थान व्रजभाषा गद्य भी है।

विशेष के लिए उपरोक्त पत्रिका देखिये।

९. इन्दर सभा

इसके लेखक अमानत हैं। *इन्दर सभा* का संक्षिप्त परिचय रंगमंचीय नाटकों के अन्तर्गत आता है। अतएव यहाँ आवश्यक नहीं है। इसमें वस्तु-विकास, चरित्र-चित्रण आदि नाटकीय अंगों पर लेखक का ध्यान इतना नहीं जितना उसमें शोखी और संगीत उत्पन्न करने में है।

१०. शकुन्तला

राजा लक्ष्मणसिंह ने इसका अनुवाद सन् १८६३ में किया था। उस समय अनुवाद केवल गद्य ही में था। पद्यों का अनुवाद भी गद्य ही में किया गया था। आगे चलकर अपने दूसरे अनुवाद में उन्होंने गद्य के [illegible] पर गद्य और पद्य के स्थान पर

काव्य की भाषा इसमें भी ब्रजभाषा है परन्तु गद्य में उसके स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग इस अनुवाद की विशेषता है। नाटकों में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का जो चलन आगे हुआ उसका सूत्रपात राजा साहब ही ने किया है।

अनुवाद परम्परा में *प्रबोध चन्द्रोदय* के पश्चात् यह दूसरा नाटक है।

पूर्व-भारतेन्दु नाटकों

का

पाठ्य-भाग

हनुमन्नाटक भाषा

प्रथमोऽङ्कः

कवित्त

तीनों लोकपति प्राणपति प्रीति ही में रति
अगिनत गती के चरण शिर नाइहौं।
सदा शीलपति सतपति एक नारी व्रत
शिव सनकादिपति यशहि सुनाइहौं।
सुरपतिहू के पति जानकी के पति
'राम' नैन कोर ओर कबहुँ तो पार जाइहौं।
फुरे वाग्पति सुनो संत साधुमति तब
ऐसे रघुपति के कछुक गुण गाइहौ ॥१॥
कौशल तनैया तनु कुशल निधान प्रभु
कलिमल मथन सुसाधुन के प्राण हैं।
करुणा की खान पहचान जाकी दीनन सों
मान लेत जी की सब ही को सावधान हैं।
देवन के देव रीझे नेक किये सेव
हिये पर-पीर जानबे को चतुर सुजान हैं।
वारिद से श्याम अभिराम कायहू के
काम ऐसे राम 'राम' के हिए विराजमान हैं ॥२॥

सवैया

सूरज की मनु की कवि 'राम' दिलीप की रीति कहाँ लौ लिखाऊँ ?
श्री रघु के अज के यश की सुकथान को अन्त कहाँ लौ सुनाऊँ ?
श्री रघुनाथ के तात की बात कहों तो कहा कहि अंतहि पाऊँ ?
ताते सुनो रघुवीर-कथा तुम सो कहि के तन ताप सिराऊँ ॥३॥

कवित्त

ऋषि संग जायबो धनुट चटकायबो
धरनिजा बिवाहिबो बड़ोई यश पाइबो।
धाइबो परशुराम गल मे खिसाइबो
उलट बन जाइबो श्रीराम राज गाइबो।

बाट को सिधाइवो जनकजा चुराइवो
समुद्र को पटाइबो लंकपति घायवो।
वीर तीय संग ले पलट घर आइवो
सु ऐसो रामचन्द्र गीत तुम्हें है सुनाइबो ॥४॥

विश्वामित्र उवाच

बैठ विचार कियो ऋषिराज ए यज्ञ न पूरण होत हमारे।
कौन बली यह लायक है तिहुँ लोकन में तिन राम विचारे।
धाय चल्यो नृप सों कह बात कही समुझाय बड़े दुख भारे।
ते न टरे शशि सूर टरे सुन साथ विना रघुनाथ तिहारे ॥५॥
सोच बढ्यो नृप के जिय मै कुल पूज हैं पायन लागि मनावें।
एक विना रघुवीर हैं तीन हू ले निज संग गुरू सुख पावें।
ए तेरे पूत सपूत सबै विधि राज हैं यों ऋषिराज सुनावें।
राजन जा मुख राम कहो अब ता मुख और कह्यो नहि भावें ॥६॥

दशरथ

बालक अयाने हठी आर की न माने बात
विना दिए मात हाथ भोजन न पाइहै।
माटी के बनाय गज वाजी रथ खेल पाते
पल ना विछौरें ताकी नेक न बसाइहै।
होते धनवान सुन पौरुख प्रमान ताकों
होहि टूक हाथ मे सु काक खोस खाइहै।
राम की तो ऐसी बात कंज पात गात जाके
सामने मरीच ताहि देख सकुचाइहै ॥७॥

विश्वामित्र

राजन काहे को बात बढ़ावत ज्ञान गहो मति मै नहि जानी।
पूत सों नेह बढ़ावत हो पुनि मोहि दुखे बस है रजधानी।
इन्द्र के त्रास डरे जैसे भूधर यो डरप्यो मुनि की सुन बानी।
राम के राखिबे की बतियाँ नृप कोटि कही ऋषि एक न मानी ॥८॥

रामगमन

कॉप उठो सुनतै अज-नन्दन ज्यो जलवायु डुलावत इन्दै।
लेहु जु लेहु कॅपाय दोऊ कर और फुरो नहि बात नरिन्दै।
राम चले हॅस के मुनि संग परे पितु पॉय लिवाय फनिन्दै।
यो ऋषि लै निकस्यो रघुवीरहि कंज की बास ज्यो ऐंच मलिन्दै ॥९॥

संग दिये ऋषि के न चले बस सो दुख नैनन ही नृप घूट्यो।
ता दिन ते सुहाय कछू बिन रामहि ज्यों वन मे जन लूट्यो।
शीश धुने धुन बात कहे रवि के कुल ते सुख जानहु छूट्यो।
नैन चुचात रहे निसिबासर जैसे रिसात रहे घट फूट्यो ॥१०॥

ताड़का-वध

दृग श्री रघुवीर निहारि निशाचरि रोक रही मग क्रोध भरी।
धर भ्यानक रूप महा अति दीरघ बात कछू मुख ते उचरी।
प्रभु ले कर तान कमानु सु बात हन्यो तहँ भाल सु भूमि परी।
कर काल भयो रघुनंदन के भवसिन्धु छनाक विषै सु तरी ॥११॥

सोरठा

चले चमक दोउ वीर, पर पायन कुल पूजि कें।
धरे धनुप मुख तीर, तबहि हन्यो ऋषिराज कहँ ॥१२॥

सुबाहु वध

यज्ञ रच्यो यह जानि विरंचि सुबाहु मरीच सुमीच को पेले।
यो गरजे फट भूमि गई सब काँप उठे बिन राम अकेले।
धाय गहे रघुवीर दोउ इक भाज गयो इक जी पर खेले।
मानहु पौन प्रचंड बली कदली बन से धरनी पर मेले ॥१३॥
पूरन यज्ञ कियो परिपूरन ब्रह्म जहाँ न तहाँ दुचिताई।
नाम लिए अघवृन्द टरे पुनि आप न बान कमान चढ़ाई।
ता दिन ते सुन रावण को विधि वाम न ज्यों रुचि मीच बढ़ाई।
देवन जाय कह्यो सुरराजहि राम भए जग लेहु बधाई ॥१४॥

जनकदूत आगमन

बीतो यज्ञ तिही समै, जनक दूत कह बात।
सिया स्वयंवर लेत हैं, पग धारहु परभात ॥१५॥

विश्वामित्र सहित राम लक्ष्मण का जनकपुरी गमन

राम लक्ष्मण जू सो बोल कह्यो कुल पूज्य
आयो है प्रमान हौं तो जनक के जाइहौ।
जो कहो तो राजा दशरथ जू पै पहुँचाऊँ
नहि संग चलो तुम्हें कौतिक दिखाइहौं।

छोटी सी कछोटी कटि धनुहीन मोटी
कर चोटी धर कह्यो नेक हौंहूँ तो चढाइहौं।
राजा ते जनम ऋषिराज तें मैं पायो गुण
ऐसे शिवजी के धनुहूतें गुण पाइहौं ॥१६॥

जनकपुरी आगमन

आय गए जनक के देश में नरेश सुत
ऋषि के सुने ते राजा आगे लेन आयो है।
षोडशोपचार कर पूजा कुल पूज्यहू की
मन वच काम चरण शीश नायो है।
पाछे बूझी कौन के कुमार तात तेरे संग
सुन्दर सुपूत के सुनत सुख पायो है।
चलिए गुसाईं धाय दीजिए बड़ाई मोहि
यहै दुचिताई धनु काहू न चढ़ायो है ॥१७॥

जनक पुरोहित का वचन

बड़ो बड़भागी योग यज्ञ अनुरागी "राम"
आज कोऊ शूर है चढ़ैया या धनुष को?
ताही के गले को फूलमाल जस टीको भाल
और बैठबे को है सिंहासन कनक को।
कुन्दन ते कोमल कमलहू ते सौरभ सु
ऐसी जानकी को सोई दूलहु बनक को?
राजा के पुरोहित सभा मे कही ऊँची टेर
सावधान सुनियो ये बोल है जनक को ॥१८॥

रावण के दूत का वचन जनक से

इन्दु, उमा दुरदानन और षडानन सो गन वृन्दन जेते।
वारन, सिंह, महीरुह, ताल तमाल सरोवर और न केते।
सो गिरिराज कैलाश उठाय लियो कर वाम डरो नहिं लेते।
जो भुज को बल तू नहिं जानत बूझ ले मूढ़! जुरे नृप एते ॥१६॥

जनक का उत्तर

तैही कह्यो द्विज रावण को बल सो सब सोंच न कोउ अरे।
सुन बोल लिवाय स्वयंवर में लट तो न गयो बल आइ करे।

अरु तैं जो कही शिव को धनु है तो कहा भयो रे छतिया पजरे।
गुरु को घर तोलत लाज भई न कमान चढ़ावत लाज परे ॥२०॥
सीय स्वयंवर काज सबै धनु तोरन को भुज ठोकत धाईं।
आय उठाय सके न नवाय के नारि खिसाइ चले शिर नाईं।
नाह को रूप निहारबे को महिमंडल की किहि मोहि लुगाई।
श्री रघुवीर की वा छवि को सव देव वधू मिल देखन आई ॥२१॥

इहि विधि पचि हारे सबै, कठिन धनुष की बात।
तव रघुपति छिति-पतिन सों, बोले मुख मुसकात ॥२२॥

आन जुटे सब देशन देश ते आज नरेश कुलाहल भारी।
रे शिव को धनु क्यो न उठावत आवत हौ ढिग ते बलिहारी।
श्री रघुवीर कही सब सों भई वीर बिना छिति रोइ पुकारी।
देखहु हाथ लगाय सबै भट नाक चली कट नाक तुमारी ॥२३॥

लक्ष्मण

बोल उठो लघु वीर सुनो रघुवीर कहो छिन माहि उटाऊँ।
श्रीमुख तें न कह्यो कछु दासहि मौहन को नेक आयसु पाऊँ।
पाइ छुवौं ऋषि को अवही रवि को कर वाम सों जाय उचाऊँ।
'राम' उठाय तुम्हें दिखराय के देहुँ चलाय कहो चटकाऊँ? २४॥

सीता (मन में)

कोमल श्री रघुवीर महा नवनीतहु ते नव नूतन माई।
है शिव को धनु वज्र समान शशि रवि ताहि सकें न उचाई।
तात को बोल अडोल सबै निरमूलक आन बन्यो दुचिताई।
जानकी जान की आश तजौ कि बरौं इनको कि मरों विष खाई ॥२५॥

विश्वामित्र

कह्यो राजऋषि राम सों, पूत क्यों न यश लेहु।
सब राजन की आश को, कर दुटूक धनु देहु ॥२६॥

धनुष-भंग

तेज पुंज दोऊ भाई राज ऋषि आज्ञा पाई
उठे रघुराई मन माहिं अति हरखे।
पॉय सो लगाय एक हाथ ही उठाय राम
राजन के बल सब तेंही घरी परखे।

सुरग पताल हिले अचल तमाल गिरे,
हाल चाल परी मन सब ही के धरखे।
देवता विमान ते सुरेश के दिवान ते
निशेष ब्रह्म भानु ते हरप फूल बरखे ॥२७॥

लगन-पत्रिका प्रेषन

राज ऋपि वात कही भली पत रही राजा
राजा दशरथ जू को वेगही वुलाइए।
कुटुँब समेत और वालक ले संग दोऊ
नैनन सों पूतन को व्याह दिखराइए।
मानी सोई करी दूत वोल्यो तिह घरी विदा
कीन्हो कह्यो पौन संग रैन दिन धाइए।
सीरी भई छाती पाई भागन की थाती 'राम'
पाती लिख पठई बराती ह्वै कै आइए ॥२८॥

व्याह होना

व्याह कियो कुल इप्ट वशिष्ट अरिष्ट टरे घर को नृप धाये।
ले सुत चार विवाहत ही घरी जानकी तात सबै समुदाये।
सौन भये अपसौन सवै पथ काँप उठै जिय मे दुख पाये।
अंक निशंक लिखे विधि जे अब ते विधिहू कबहूँ न मिटाये ॥२९॥

परशुराम आगमन और प्रभाव

कौने सिख दीनी तोहीं ताकी तू बताय मोंहि
ओठन चबाय, और देखे रामचंद्र की।
राते कर नैन धूम नाक ते ससाइ तिन
रोक्यो नाक जाइ तहाँ सूर ज्योति मंद की।
राजा पछताय देखो परो दुख कैसो आइ
तोरो गज चाहे वेल आनँद के कंद की।
लोप सुख भयो धोय दीन विध कोप राध
कोप देख ओप मुख खूटी अज-नंद की ॥३०॥

राम का उत्तर

मै न जान्यो तेरो बल-तैसो ताको लाग्यो फल
कठिन कुठार धार कंठ पर धरिये।

इते पर और कछू बात आवे तात हाथ
कीजै सोई भावती ये रोष को न करिये।
ऐसो कुछ कुल को सुभाव है हमारो 'राम'
मारे मार खैयै पै न मारिए जु मरिये।
वैरी सर नाय और सुनो मुनिराय गाय
वामन से लरिए तो पाय काके परिये ।।३१।।

परशुराम मद खण्ड

जैसे अहि मोर तें नसानो चोर भोर तें
कुरंग सिंह शोर तें तुषार जैसे घाम तें।
अन्धकार दीप तें वियोगी ती समीप तें ज्यो
कातिक के मेघ नभ जात सुर धाम तें।
दारिद ज्यों पारस तें काल ज्यों सुधारस तें
पापन को जाल जैसे एक हरिनाम ते।
जैसे एक लोभ तें अनेक गुन भाजै 'राम'
तैसे आज चल्यो है परशुराम राम तें ।।३१।।

इति श्रीरामगीते सीतावैवाहिको नाम प्रथमोऽङ्कः

द्वितीयोऽङ्कः

सुनहु सन्त मन दै सबै, ह्याँ लौ है सुख शान्ति।
अबहि कथा रघुवीर की, चली और ही भाँति ।।१।।
राजा सब सों यों कही, राम शीश दै राज।
हौ बन बस तप को करों, याते भलो न काज ।।२।।
भूले अंग न समात, यहि विधि पुरवासी सबै।
लोचन सकल सिरात, देख रूप भी राम को ।।३।।
सुनि कैकेयी बात, रामहि राज्य विदेश सुत।
नैक न नैन सिरात, रहो रूठ द्वै वचन सों ।।४।।

कैकेयी का राजा से वचन लेना :

जाय जुहार कियो नृप सों तिन द्वै वर वे तुम तें अब पाऊँ।
कौन समै यह श्रीरघुवीरहि राज्य दै मानिनि नैन सिराऊँ।
रूठ रही मन सों कह्यो भूपति आनँद आज न याहि रुठाऊँ।
"माँग" कह्यो "बनवास दै रामहि हौ अपने सुत राज्य रजाऊँ" ।।५।।

दशरथ :

लीजिए समान सब देशन को राज आज
हौं भिखारी भयो अब राम भीख हौं लहौं।
जो कहो तिहारे गाँव भीख माँग माँग खाऊँ
जो पै राम संग तो अनेक दुख मैं सहौं।
जो न हो सुहाऊँ संग राम लै विदेश जाऊँ
प्राण जात नारि सुन बात एक हौं कहौं।
राज्य तेरे पूत को न कीजिए कुपूत पूत
राम को कहाऽपराध राम घर ही रहौं ॥६॥

कैकयी :

क्यों दुख पावत हो वर देत सु मोंहि कहो प्रभु ते अब देई।
राजन जे जिय मोंहि रुचै वर माँग लए नृप ते अब तेई।
जे नर बोल निबाहत ही शिर आन परी सो घरी वह सेई।
कै अब फेर कहो मुख कैकयि मैं वर तोहिं न देन कहेई ॥७॥
विदा भये वन को युगल पूत कैकयी हेत।
श्री रघुपति भुज टोंक के विदा जो इनको देत ॥८॥
कटि निषंग कसि धनुष कर लछिमन अति रणधीर।
और हुती औरै भई, अब चलिए रघुबीर ॥९॥

सीता

देखे दुख जीऊँ बिन देखे नैन सीऊँ दोऊ
पानी दूँ न पीऊँ तात मात धाय को चहे ?
ऐसी विपरीत बात और ही सो कहो नाथ
जो न संग गहौ प्रान आन यम मो गहे।
कौन काज आज पुरुहूत को समाज मेरे
नाथ घर नाहीं सोई राज नाग ज्यों दहे।
योग की जुगत मैं तो आजहू ते जानी रानी
कौशल्या के पास पटरानी होइ सो रहे ॥१०॥
बहुत रही समझाइ, रहे न माता वचन कहु।
वन को चाले धाइ, लछमन सीता संग ह्वै ॥११॥
ए वनवास चले दोउ सुन्दर कौतुक को सिय संग जुटी है।
पाइछ साथ चली इनमें रनवासहु की नहि सीय छुटी है।

हाथ धरे कटि बूझत रामहि नाथ कहो कहाँ कंज-कुटी है ?
रोवत राघव जोवत सी दुख मानहु मोतिन माल टुटी है ॥१२॥
रोवैं सब गाँव वासी रानी रनवास दासी
देह ते उदासी पानो कारो नाग छ्वै गयो।
छुटे केश विकराल आप आपको बिहाल
काहि को प्रबोधे सबहूँ को रस वै गयो।
सब ही के प्राण हर तपसी को वेष कर
जानकी समेत राम जौ लौ कोस द्वै गयो।
तौ लौ रहे प्राण दशरत्थ जू के नीके पाछे
रामनाम लेत राजा राम राम ह्वै गयो ॥१३॥

इति श्रीरामगीते श्रीरामचन्द्रवियोगो नाम द्वितीयोऽङ्कः

समयसार नाटक

मंगलाचरण

मनहर छंद

करम मरम जग-तिमिर-हरन खग
उरग-लखन-पग सिव मग दरसी।
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविक-जन सरसी।
मदन-कदन-जित परम-धरम हित
सुमिरत भगति भगत सब उरसी।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन
कमठ-दलन जिन नमत बनरसी ॥अ॥

दोहा

वंदौं सिव अवगाहना, अरु वंदौं सिव पंथ।
जसु प्रसाद भाषा करौं, नाटक नाम गरंथ ॥आ॥

सवैया मत्तगयन्द

चेतन रूप अनूप अमूरति सिद्ध समान सदा पद मेरौ।
मोह महातम आतम अंग कियौ परसंग महातम घेरौ॥
ग्यान कला उपजी अब मोहि कहौं गुन नाटक आगम केरौ।
जासु प्रसाद सधै सिव मारग वेगि मिटै भव वास बसेरौ ॥इ॥

सवैया इकतीसा

जीव निरजीव करता करम पाप,
आस्रव संवर निरजरा बंध मोष है।
सरब विसुद्धि स्यादवाद साध्य साधक,
दुवादस द्वार धरै समयसार कोष है।

अ. श्री पार्श्वनाथ जी की स्तुति।

आ. सिद्ध भगवान और मोक्ष मार्ग की वंदना।

इ. कवि स्वरूप वर्णन।

दरवानु-योग दरवानु जोग दूरि करे,
निगम कौ नाटक परम रस पोष है।
ऐसौ परमागम बनारसी बखानै जामै
ग्यान कौ निदान सुद्ध चारित की चोप है ।।ई।।

जीवद्वार

दोहा

शोभित निज अनुभूति जुत चिदानंद भगवान।
सार पदारथ आत्मा सकल पदारथ जान ।।१।।

सवैया

जो अपनी दुति आप विराजत है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक महा सुख सागर कौ विसरामी ।।
जीव अजीव जिते जग में तिन कौ गुन ज्ञायक अंतरजामी।
सो सिव रूप बसे सिव थानक ताहि विलोकि नमै सिवगामी ।।२।।
जोग धरै रहैं जोग सौ भिन्न अनंत गुनातम केवल ज्ञानी।
तासु हृदय-द्रहसौ निकसी सरिता सम ह्वै श्रुत-सिधु समानी ।।
या ते अनंत नयातम लच्छन, सत्य स्वरूप सिधंत बखानी।
बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध सदा जग माँहि जगै जिनवानी ।।३।।

छप्पय

हौं निश्चय तिहुँ काल सुद्द चेतनमय मूरति।
पर परनति संजोग भई जड़ता विस्फूरति।
मोहकर्म पर हेतु पाइ चेतन पर रच्चइ।
ज्यों धतूर रस पान करत नर बहु विध नच्चइ ।।
अब समयसार बरनन करत परम सुद्धता होहु मुझ।
अनयास बनारसिदास कहिं, मिटहु सहज भ्रम की अरुझ ।।४।।

ई. नाटक समयसार के बारह अधिकार।
१. चिदानंद भगवान की स्तुति।
२. सिद्ध भगवान की स्तुति।
३. जिनवाणी की स्तुति।
४. कवि-व्यवस्था।

सवैया इकतीसा

निहचै मैं रूप एक विवहार मे अनेक
याही नै-विरोध मैं जगत भरमायो है।
जग के विवाद नासिवे कौ जिन आगम है
जा में स्यादवाद नाम लच्छन सुहायो है।
दरसन मोह जा कौ गयो है सहज रूप
आगम प्रमान ता के हिरदै मैं आयो है।
अनैसौं अखंडित अनूतन अनंत तेज
ऐसो पद पूरन तुरंत तिनि पायो है ।।५।।

सवैया

ज्यौं नर कोउ गिरै गिरिसौं तिहि सोइ हितू जो गहै दिढ़ बाहीं।
ज्यौं बुध को व्यवहार भलौ तव लौं जब लौ सिव प्रापति नाही।
यद्यपि यौं परवान तथापि सधै परमारथ चैतन मॉही।
जीव अव्यापक है पर सौ विवहार सौं तौ पर की परछाही ।।६।।

मनहर छंद

शुद्ध नय निहचै अकेलौ आयु चिदानंद
अपनै ही गुन परजाय कौं गहतु है।
पूरन विग्यान धन सो है विवहार माहि
नव तत्व रूपी पंच दर्व में रहतु है।।
पंच दर्व नव तत्व न्यारे जीव न्यारौ लखै,
सम्यक दरस चहै और न गहतु है।
सम्यक दरस जोई आतम सरूप सोई
मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है ।।७।।
जैसें तृन काठ बांस आरने इत्यादि और
ईंधन अनेक विधि पावन में दहिये।
आकृति विलोकति कहावै आग नाना रूप
दीसै एक दाहक सुभाव जब गहिये।

---

५. शास्त्र का माहात्म्य।
६. निश्चय नय की प्रधानता
७. सम्यग्दर्शन का स्वरूप

तैसै नव तत्व में भयो है वहु भेषी जीव
सुद्ध रूप मिश्रित असुद्ध रूप कहिये।
जाही छिन चेतना सकति कौ विचार कीजै
ताही छिन अलख अभेद रूप लहिये ॥८॥
जैसै रवि-मंडल के उदै महि-मंडल मै
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसें परमात्मा कौ अनुभौ रहत जौ लौ
तौलौ कहूँ दुविधा न कहूँ पच्छपातु है!
नभ कौ न लेस परवान कौ न परवेस
निच्छंप के वंस कौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक है तेऊ तहाँ वाधक है
वाकी राग दोष की दसा की कौन वातु है ॥९॥

कवित्त (३१ मात्रा)

सद्गुरु कहै भव्य जीवनि सौं
तोरहु तुरित मोह की जेल।
समकित रूप गहौ अपनौ गुन
करहु सुद्ध अनुभव कौ खेल।
पुदगल पिंड भाव रागादिक
इन सौं नहीं तुम्हारौ मेल।
ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन
जैसे भिन्न तोय अरु तेल ॥१०॥

सवैया इकतीसा

अपनै ही गुन परजायसौं प्रवाहरूप,
परिनयौ तिहूँ काल अपनै अधार सौ।
अन्तर वाहर परकासवान एक रस,
खिन्नता न गहे भिन्न रहै भौ-विकार सौ।
चेतना के रंग सरवंग भरि रह्यौ जीव
जैसे लौंन-कॉंकर भरयौ है रस खार सौ।

---

८. जीव की दशा पर अग्नि का दृष्टान्त।
९. अनुभव की दशा मे सूर्य का दृष्टान्त।
१०. हितोपदेश।

पूरन स्वरूप अति उज्ज्वल विग्यान घन
मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवार सौं ॥११॥

दोहा

एक रूप आतम दरव, ग्यान चरन दृग तीन।
भेदभाव परिनाम सौं, विवहारे सु मलीन ॥१२॥
जदपि समल विवहार सौं, पर्यय-सकति अनेक।
तदपि नियत-नय देखिये, सुद्ध निरंजन एक ॥१३॥
एक देखिये जानिये, रमि रहिये एक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ॥१४॥

सवैया

कै अपनो पद आप सँभारत कै गुरु के मुख की सुनि बानी।
भेद विग्यान जग्यौ जिन्हकै प्रगटी सुविवेक-कला रजधानी।
भाव अनंत भए प्रतिबिम्बित जीवन मोख दसा ठहरानी।
ते नर दर्पन ज्यों अविकार रहैं थिर रूप सदा सुख दानी ॥१५॥

सवैया इकतीसा

बानारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख
कैहूं भाँति कैसेहूं कै ऐसो काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यातको विधुंस होइ
ग्यान कौ जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।
वाही कौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल
यौंही भरि जनम परम रस पीजिये।
तजि भव-बास कौ विलास सविकार रूप
अंत करि मोह कौ अनंत काल जीजिए ॥१६॥
जाके देह द्युति सौं दसौं दिसा पवित्र भई
जाके तेज आगे सब तेजवंत रुकै हैं।

---

११. ज्ञानियों का चिंतवन।

१२. व्यवहार नय से जीव का स्वरूप।

१३. निश्चय नय से जीव का स्वरूप।

१४. शुद्ध निश्चय नय से जीव का स्वरूप।

१५. ज्ञाता की अवस्था।

१६. परमार्थ की शिक्षा।

जाको रूप निरखि थकित महा रूप वंत
जाकी वायु-वास सौं सुवास और लुके है।
जाकी दिव्य धुनि सुनि श्रवण कौं सुख होत
जाके तन लच्छन अनेक आइ ढुके है।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन
निहचै निरखि सुद्ध चेतन सौं चुके हैं ॥१७॥
ऊँचे ऊँचे गढ़ के कँगूरे यौं विराजत हैं
मानो नभ लोक गीलिबे कौं दाँत दीयौ है।
सोहै चहुँ ओर उपवन की सघनताई
घेरा करि मानौ भूमि लोक घेरि लीयौ है।
गहिरी गँभीर खाई ताकी उपमा वनाई
नीचौ करि आनन पताल जल पीयौ है।
ऐसो है नगर यामै नृप को न अंग कोऊ
यौं ही चिदानंद सौं शरीर भिन्न कीयौ है ॥१८॥

आडिल्ल छन्द

कहै विच्छन पुरुप सदा मै एक हौं।
अपने रस सौ भरयौ आपनी ठेक हौं।
मोह कर्म मम नाहि नाहि भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिधु हमारौ रूप है ॥१९॥

सवैया इकतीसा

तत्त्व की प्रतीति सौं लख्यौ है निज परगुन,
दृग ज्ञान चरन त्रिविधि परिनयौ है।
विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,
आपुही मै आपनौ सहारौ. सोधि लयौ है।
कहत वनारसी गहत पुरुषारथ कौं
सहज सुभाव सौं विभाव मिटि गयौ है।
पन्ना के पकाये जैसे कंचन विमल होत
तैसे सुद्ध चेतन प्रकाश रूप भयौ है ॥२०॥

---

१७. तीर्थंकर भगवान के शरीर की स्तुति।
१८. पुद्गल और चैतन्य के भिन्न, स्वभाव पर दृष्टान्त।
१९. निजात्मा का सत्य स्वरूप।
२०. तत्व ज्ञान होने पर जीव की अवस्था।

जैसै कोउ पातुर बनाय वस्त्र आभरन
आवति अखोर निसि आड़ौ पट करिकै।
दुहूँ ओर दीवटि सँवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभा के लोग देखें दृष्टि धरि कैं।
तैसैं ग्यान सागर मिथ्याति ग्रथि भेदि करि
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूँ लोक भरि कैं।
एसौ उपदेस सुरि चाहिए जगत जीव
सुद्धता 'सँभारैं जग जाल सौं निसरि कै ॥२१॥

इति प्रथम अधिकार

अजीव-द्वार

दोहा

जीव तत्त्व अधिकार यह, कह्यौ प्रगट समुझाय।
अब अधिकार अजीव कौ, सुनहु चतुर चित लाय ॥१॥

सवैया इकतीसा

परम प्रतीति उपजाय गनधर की सी,
अन्तर अनादि की विभावता विदारी है।
भेदग्यान दृष्टि सौ विवेक की सकति साधि
चेतन अचेतन की दसा निरवारी है।
करम कौ नास करि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिए मे हरखि निज उद्धता संभारी है।
अंतराय नास भयौ सुद्ध परकास थयौ
ग्यान कौ विलास ताकों वंदना हमारी है ॥२॥

दोहा

चेतनवंत अनंतगुन सहित सु आतम राम।
या ते अनमिल और सब, पुद्गल के परिनाम ॥३॥

---

२१. वस्तु स्वभाव की प्राप्ति मे नटी का दृष्टान्त।
१. अजीव अधिकार वर्णन।
२. भेद विज्ञान द्वारा प्राप्त पूर्णज्ञान।
३. जीव और पुद्गल का लक्षण।

कवित्त

जब चेतन संभारि निज पौरुष, निरखै निज दृग सौं निज मर्म ।
तब सुख रूप विमल अविनासिक, जानै जगत सिरोमनि धर्म ।
अनुभौ करै सुद्ध चेतन कौ रमै स्वभाव वमै सब कर्म ।
इहि विधि सधै प्रकृति कौ मारग अरु समीप आवै सिव सर्म ॥४॥

दोहा

बरनादिक रागादि यह , रूप हमारो नांहि ।
एक ब्रह्म नहिं दूसरौ , दीसै अनुभव मांहि ॥५॥
खाड़ो कहियै कनक कौ , कनक म्यान संयोग ।
न्यारौ निरखत म्यान सौं , लोह कहै सब लोग ॥६॥
बरनादिक पुद्गल दसा , धरै जीव बहु रूप ।
वस्तु विचारत करम सौं , भिन्न एक चिद्रूप ॥७॥
निराबाध चेतन अलख , जानै सहज स्वकीव ।
अचल अनादि अनंत नित , प्रगट जगत मै जीव ॥८॥

सवैया इकतीसा

रूप रसवंत मूरतीक एक पुद्गल,
रूप विनुं औरु यौ अजीव दर्व दुधा है ।
चारि हैं अमूरतीक जीव भी अमूरतीक
याहीं तै अमूरतीक-वस्तु-ध्यान मुधा है ।
और सौं न कबहूँ प्रगट आप आपुही सौं
ऐसौ थिर चैतन सुभाउ सुद्ध सुधा है ।
चेतन कौ अनुभौ अराधैं जग तेई जीव
जिन्हको अखण्ड रस चाखिवे की छुधा है ॥९॥

---

४. आत्मज्ञान का परिणाम ।
५. जड चेतन की भिन्नता ।
६. देह और जीव की भिन्नता पर दृष्टान्त ।
७. जीव और पुद्गल की भिन्नता ।
८. आत्मा का प्रत्यक्ष रूप ।
९. अनुभव विधान ।

सवैया

चेतन जीव अजीव अचेतन, लच्छन भेद उभै पद न्यारे।
सम्यक् दृष्टि उदोत विचच्छन भिन्न लखैं लखिकैं निरवारे।
जे जग मांहि अखण्ड अखण्डित मोह महामद के मतवारे।
ते जड़ चेतन एक कहैं, तिन्हकी फिरि टंक टरै नहि टारे ॥१०॥
या घट में भ्रम रूप अनादि विलास महा अविवेक अखारो।
ता महि और सरूप न दीसत पुग्गल नृत्य करै अति भारो॥
फेरत भेख दिखावत कौतुक सौंजि लियें वरनादि पसारो।
मोह सौं भिन्न जुदो जड़ सौ चिन मूरति नाटक देखन हारो ॥११॥

इति दूसरो अधिकार

---

१०. मूढ़ स्वभाव वर्णन।
११. ज्ञाता विलास।

प्रबोध नाटक

मंगल पाठ

जैसे मृग तृष्णा विषय जल की प्रतीत होत
रूपे की प्रतीत जैसी सीप विपय होत है।
तैसे जाके विन जाने जग तस जानियत,
जाके जाने जानियत विस्व सब तोत है॥
ऐसो जो अखण्ड ज्ञान पूरन प्रकासवान
नित सम समि सुध आनन्द उदोत है।
ताही परमात्मा की सत उपासना ही
निस्सन्देह जानौ याकी चेतना ही जोत है॥

सूत्रधार—(नटी को बुलाता है)

नटी—यह हो, आज्ञा दीजै।

सूत्रधार— महा विवेकी ज्ञान निधि धीरज मूरतिवान।
परम प्रतापी दानि अति, नीति रीति को जान॥

तिन महाराज ने आज्ञा करी है कि ए! हमारे सभा के लोक है। तिनकै लिए प्रबोध नाटक दिखावो ज्यों इनको विवेक होई और मोह को नास होई।

नटी—महाराज की सभा मै ऐसे सुभट बैठे है तिनके मन मे सात कैसे आवे।

काम—(यवनिका मे) अरे पापी अधम नट! हमारे जीवत हमारे प्रभु कौ नास विवेक तैं क्यो करत है?

सूत्र—(कुछ भय लिए) यह काम है और रतिहू संग है। याको मेरे वचन तें क्रोध भयो है। ताते हमारो रहिबौ वनत नाहीं।

[प्रस्थान

[काम का रति संग प्रवेश]

काम— ज्ञानी पंडित ए सबै जोलौ निष्ठावान।
तौलौ ए नांही परै मेरे उन पर बान॥

और यह ही जानत हौ कि जौलौ ए मेरे बान हैं तौलौ विवेक कौ कहा सामर्थ है? और प्रबोध कैसे होयगौ?

रति—अहो, तो राजा महामोह को वह विवेक वड़ो ही शत्रु है।

काम—तोको कहा विवेक तै भै उपज्यौ ? तू मेरो धनुप और ए वान फूलन के जानत पै देवता और मनुप ए मेरे इन वाननि की आज्ञा लोप सकै नाहीं और तैं सुनी ही होइगी कि मेरे वाननि ब्रह्म, इन्द्र, चन्द्रमा और तिनकै विवेक को कैसों नास करचौ। तो इन लोकन के विवेक को नास करनो कहा है !

रति—अहो योही है ये। तऊ वहौत सहाय जा सत्रु के होहि और जम नैमादिक से महावलवान मंत्री होहि ताते भै उपजे ही।

काम—हे प्रिया ! जे ए विवेक के जम नैमादिक आठ मंत्री कहे, ते तू निश्चय जानि हमारे देखत ही भजैंगे ! और सुनी, मद, मान, मच्छर, दंभ, लोभ ए हमारे प्रभु के सेवग है तिनसौ जव जम नैमादिक भाजैगे, तव हमारे प्रभु को मंत्री अधर्म है ताको जाय मिलैंगे।

रति—अहो ! मै सुन्यो है जु तुम्हारो और विवेक को उत्पत्ति स्थान एकै है।

काम—ए उत्पत्ति स्थान कहा कहावे ? हमारे अर विवेक को एकै जु पिता है। सुनि, परम्परा तो कहा कहौ, पै देखि मन कै दोई स्त्री है—एक प्रवृत्ति, एक निवृत्ति। प्रवृत्ति तें उपजे तिन के मोह प्रधान है, अर निवृत्ति उपजे तिनकै विवेक प्रधान है। ऐसे ए द्वे कुल उपजाइ सकल विस्व उपजायो।

रति—अहो ! जो यो है तो तुम मै उनमे एसो विरुध काहे ते ?

काम—यह सव जगत हमारे पिता के उपजायो है। ताको हम नीकै चलावण लागे। तव पिता हमकुं प्यार करिकै कह्यो 'तुम मौकूं अति प्रिय हो, ऐसे ही जगत को व्योहार चलावै। तव उनको चलन अलप रह्यो। ताते वे पापी पिता को अरु हम को निरमूल करिवे को भए।

विवेक—(नेपथ्य मे) अरे दुप्ट ! हमही सुं पापकारी कहतु है। सुनि रे ! गुरु है और सत है। कारज अकारज को नहीं जानत। कुमारग को प्रवृत्त भयो है तो ता गुरुऊ कौ त्याग कह्यौ है। इन हमारे पितानै अहंकार सौ मिलि जगत परति हमारो पितामह ताहि कुं वाध्यो।

काम—(रति से) अहो प्रिये ! ऐ हमारे कुल विषय श्रेप्ठ विवेक 'मति' सहित आए है, ताते हमारो रहिवौ बनत नांहीं।

[प्रस्थान

[राजा विवेक का मति सहित प्रवेश]

राजा विवेक—तें आय नीति कै वचन सुनै । हमसुं पापी कहत, तब ।
मति—अहो ! कहा अपनौ दोष लोग जानत है ।
राजा—देख ! यह हमारो पिता महाचिदानंद, निरंजन, जगत प्रभुता कों अहंकारादिक नै अनेक पासनि बांधि कै दीनता कौ प्रापत कियौ । ते ए पुन्यकारी और ताकौ छुड़ायबै को उद्यम करत है । ते पापकारी अहो कहा कहियै दुप्टन की वात ।
मति—जो वह सहजानंद सुभाव है, नित्य-प्रकास कहे तो इन अनीतियनि बंधि कै कैसे मोह सागर मे डारयौ ?
राजा—अहो ! जद्यपि पुरुष बुधिवान, धीरजवान है तऊ स्त्री हरयौ है मन जाकौ, तिन सहजैं धीरज छाड्यो । तैसे ही यह माया कै, संगतें अपनपो भूल्यौ । तब माया याकौ अपनपौ भूल्यो जानि, आय वस भयौ जानि, करतापनो मन को पुत्र जान जानि कै दयौ ।
मति—जैसी मॉ है तैसौ ही पुत्र है ।
राजा—अहो मनने राज पाय कै करतापनै को भार अहंकार पर धरयौ । मै जनत्यौ यह मेरो पिता है, यह मेरों कुल है, पुत्र मित्र, शत्रु, वंधु, हितु मेरो है । ऐसे यह अविद्या, निद्रा वसि होइ अनेक सुपन देखत है ।
मति—अहो ! तो ऐसी दीरघ निद्रा तें याको जागिवो कैसे हाइगो ?
राजा—(लज्जा करि रहै)
मति—तुम्ह क्यो लजाइ रहे ? बोलत नाहीं ?
राजा—प्रिये ! स्त्री ने कीन्ह दोइ सखा सहित है । तातें हौ सपराध, आपको मानत हौ ।
मति—मति की आज्ञा मे नही, ते स्त्री और है ।
राजा—उपनिषद मानती है । वहोत दिन भये मै वाको छाँड़ि है, तातें सक्रोध है; ताते सांत, अरु तूं जो अनुकूल हो उपनिषद देवी को मोसो मिलावो तो प्रबोध को उदय होय ।
मति—अहो ! ऐसे जो पितामह छूटै तो मोकूं और कहा चाहिए ।
राजा—जो तू ऐसी हमारी आज्ञा मे है तो हमारे कारज सहजै सिद्धि भए । सुनि, एक को बॉधि कै अनेक कीयो है और म्रित को प्रापति कियो है, ते बॉध छुड़ाई और ब्रह्म एकता को प्रायश्चित्त करो । तब मैं हूँ प्रान त्याग प्रायश्चित्त करि, ब्रह्म-एकता को पाऊँ ।

[दोनों का प्रस्थान

द्वितीय अंक

[दम्भ का प्रवेश]

दम्भ—राजा महामोह ने मोंको आज्ञा दीनी है 'पुत्र दम्भ! विवेक ने प्रबोध को उदिम कियो है। उदिम कहा कियो? कि अपने सेवक ठोर ठोर पटए प्रबोध करिबे कों, ताते तुम सावधान होउबे कु लक्ष्य करिबे को उदिम भए है; ताको जतन करो। पच्छि में परम मुक्ति क्षेत्र बारानसी है ताते तूऊ उहाँ जाय कै जे मुक्ति के अर्थ जतन करत है तिनको विघन करि, सो मै अब बानारसी सब बस करि अपने स्वामी की आज्ञा सब सार्थक करी। और सुनी, जे मै आप बस किये ते कहा करत है—वेस्य के घर में जाइ मदपान करि और आनंद पावत हो। ऐसे करम विषयलीन होई रात कटत है। तेई फिर दिन कों दीखित होय बैटत है, कहत है हम सर्वग्य है। बहुत काल के अग्निहोत्री हैं, ब्रह्मज्ञानी हैं, तापस हैं, ऐसे कहिकै जगत को ठगत हैं। उत देख्यो एक कोउ पथिक गंगा उतरि के इतही को आवत है सो कैसो लगत है? जानो अपने अभिमान सो जरेगो। कहा त्रैलोक ग्रस लेगो। मेरे मन मे ऐसो आवत है दखन (दक्षिण) राढ़ देश ते आयो होईगो। जो ह्याँ ते आयो है तो हमारे पितामह अहंकार की कुसलात यातें पूछेंगे।

[अहंकार का प्रवेश]

अहंकार—अहो! कहा देखत हो? सब जगत मूर्ख है। कोउ गुरु को मत जानत है. मीमांसा कोउ जानत है; तो वाचस्पति के मत की कहा चली? ऐ नर पसु के से सुखी रहत है और ए वेद पाठ करत है। तिन्हे अरथज्ञान तो है ही नहीं। पाठमात्र ही करत है? और सन्यासी है तेतो मिथ्या ही के लिए सन्यास लियो है। ए वेदान्ती कहा जाने? (फेरि हँसि के कह्यो) प्रतिच्छ प्रमान करि सिद्ध है जगत। तासो कहत है मिथ्या है। ऐसो जो वेदातहूँ शास्त्र कहावत है तो बोध में कहा अपराध है? ऐसे है जिनसुं बोलेहु पाप लागे। (आगे चल कर) अहो! यह गंगा तट को आश्रम है जहाँ अनेक धोती ऊपरे नात नाव नियर सूखत है और ठोर ठोर के जग के पात्र मृग चर्म है तो कोउ दिन ह्याँ जाई रहो हूँ। (वहाँ जा कर) तथा (देख कर)

मृतिका को तिलक ललाट विषय है, भुजा विषय, उदर विषय,

उर विषय, कंठ विषय, ओष्ट विषय, पीठ विषय, चिबुक विषय, जंघा विषय, कपोल विषय, घूँघट विषय, और जूड़ा विषय, कान विषय, कटि विषय, हाथ विषय धरे है मूरतवंत दंभ है। (निकट जाय) कल्याण होऊ।

दम्भ—(शिष्य की ओर निवारणार्थ देखा)

[शिष्य का प्रवेश]

शिष्य—ब्राह्मण दूर ही रहो। ऐसे आश्रम में आइये तब पाप धोइ के आइये।

अहंकार—(क्रोध से) हम कैसे मलीन देस में आए है? है तो यो कि अतिथि के पॉव धोइए, आसन दीजिए। ए उल्टै मेरे पाँव मोही पै धुलावन लागे।

दम्भ—(हाथ से समाधान करता है और शिष्य की ओर देखता है)

शिष्य—प्रभु यह आग्या करत हैं तुम दूर देस तें आए हो, विदेसी हो, ताते, हम तुम्हारो कुल सील नाहीं जानत।

अहंकार—कहा हमारो कुलसील तुम अब जानोगे। गौड़ देस सब से श्रेष्ठ। ताहू मे राढ़पुरी फिरि भूरि श्रेष्ठ, तिन्ह मे हमारे पिता श्रेष्ठ, ताके पुत्र कुलिन श्रेष्ठ, ऐसो कौन नही जानत। तिन्हीं में बुधि करि, सील करि, विवेक करि, धीरज करि, आचार करि हौ सबतें श्रेष्ठ हौ।

दम्भ—(शिष्य की ओर देखता है)

शिष्य—(जल-पात्र ला कर देता है)

अहंकार—(पॉव धो कर बैठता है)

दम्भ—(क्रोध सहित) दूर ही बैठो, बाइ करि प्रसेद कन आवत।

अहंकार—अहो! इह ब्राह्मन अपूर्व देख्यो।

शिष्य—यों ही है। याकी देहली ही को बघेराज (?) धोक देत है; निकट को आइ सके!

अहंकार—अरे पापी! हमसे कुलीन ते उहॉ बैठबे जोग नहीं? अरे हमारे यक सारे को भानेज हों ताकी स्त्री को काहू मिथ्या बुराई दई, ताते मैं अपनी स्त्री छोड़ी।

दम्भ—जद्यपि तुम तो ऐसे ही हो, ये हमारो वृतान्त नाहीं सुन्यौ सुनि, एक बेर ब्रह्मा पै गयो हो, तब जितें मुनि ब्रह्मा की सभा विषय बैठे हुते, ते सब पुनि मेरे आदर हेंत उठि ठाड़े भये। तब ब्रह्मा ने अपनी जॉघ गोबर सु निप मोको सौंह दिवाईके जॉघ पर बैठायो।

अहंकार—(स्वगत) यह दम्भ ब्राह्मण ने अत्युक्ति करी है। (सोच कर) यह कहीं दम्भ ही न होइ। (क्रोध से) अरे पापी! इन्द्र सु कहा, ब्रह्मा सु कहा, मुनि सु कहा? मेरे तपस्या को वल ऐसे हो केसो इन्द्र होई केसो ब्रह्मा होई, तउ गिरे। एक इन्द्र की, एक ब्रह्मा की तो कहा चली?

दम्भ—(विचार कर) यह हमारे पितामह अहंकार ही होई। (खडे हो कर) लोभ को पुत्र दम्भ हों, नमस्कार कहौं।

अहंकार—पुत्र! चिरंजीव हो। मैं तोंकु द्वापर के अन्त विपय देख्यो हों; वहुत दिना ते तोको देख्यौ, ताते नीके नहीं पहचान्यों। तेरो पुत्र झूठ नीके है।

दम्भ—हां जी यहां ही है। वा विनु मोको एको दिनु न रह्यो जाइ।

अहंकार—तुम्हारे माता पिता, तृष्णा लोभ ह्याहि है।

दम्भ—पितामह कौन प्रसंग तें ह्या पधारे?

अहंकार—अहो पुत्र! महामोह को विवेक तें भै उपज्यो है, ताते मोहूँ को यहाँ पठ्यो है।

दम्भ—भली भई। और राजा महामोह को इन्द्र लोक तें ह्याँ आवतो सुनियत है। और ऐसी यों सुनियत है कि राजा महामोह वानारसी को राजधानी करें, तो राजा महामोह सदा वानारसी में रहे ताको कारन कहा?

अहंकार—हे पुत्र! विवेक के लिये और मुनि प्रवोध की जनमभूमि है वाराणसी ब्रह्मपुरी और कुं छ्य करयौ चाहत है ज्युँ विवेक सो निरत रह्या ही रहत है।

दम्भ—(भय सहित) जो यो है तो ताको उपाइ तो मन मे नाही आवत।

अहंकार—के सांच पै ए काम, क्रोधादिक ऐसे वलिष्ठ हैं तिनके आगे विवेक को वल कहाँ?

(नेपथ्य में—अहो पुरवासी लोगो! राजा महामोह आए। चन्दन सो भूमि छिरक्यौ, विछौना करौ, ऊपर जराव की चौकी धरो, फुहारे चलावो, तोरण बाँधौ)।

दम्भ—हे पिता महाराजा महामोह निकट आए, तातै इनके लैवे को आगे चलिए।

अहंकार—पुत्र! वहोत नीके चलिए। राजा महामोह आए, सव सेना संग लाए।

[महामोह का प्रवेश]

महामोह—(हँस कर) अहो निरंकुश ! ऐ जड़बुद्धि ! आत्मा को देह ते जुदो मानत है ताको फिर कहै स्वर्गादिक फल को भोगता है। अहो ! आकास वृच्छ के फल की आसा करत है और देखो वस्तु नाहीं ताको कहत है और सेंती वचन नास्तिक कहे तिनको दोष लगावत है। और यहु अचरज देख्यौ कि देह में छुंद करिये तो आत्मा कऊँ पाईये। इन आस्तिकनि जगत ठग्यौ पै अपन योंही ठग्यौ। और सुनो, इन लोगन के मुख, नाक, स्रवन, नेत्र, हाथ, पाय सब के एक से ही है, तिन में कहत है ऐ ब्राह्मन, ए छत्री, ए वैस्य। एसौउ यह पराई स्त्री है, यह पराया धन है—पै हम तो यह भेद कछु न जान्यौ (सोच कर) सास्त्र है तो वोध करन को। सास्त्र है जा में प्रतिच्छ प्रमान है और अर्थ काम जामे पुरुषारथ परलोक कहा है, आत्मा कहा है; मारिबो ही सोख है और हमारो अभिप्राय है सो चार्वाक कहेगौ।

[चार्वाक का प्रवेश]

चार्वाक—अहो राजा ! यों जानों दंड नीति सोई राजविद्या। आजीविका हूँ यहै। देखा ए आस्तिक स्वर्गादिक फल मानत है। देखो कर्ता, क्रिया, द्रव्य को नास भयो, तव फल कहाँ ते आवेगो जैसे अगन कै वारै व्रिछ के फल की आसा धरिए। और सुनिवे कौ जो सराध त्रिपति करै तो वुझे दीपहूँ की तेल मारै शिखा चढे।

शिष्य—हे आचारज ! खानो पीवनो ही जो पुरुपार्थ है तो यह लोग संसार सुख छोड़ि क्यों तीरथ-वास करत हैं।

चार्वाक—ए धूरत ! जो आस्तिक है तिननि आसा के लडुवा देखाइ ढगे है।

महामोह—अहो ! वहोत दिन पीछे प्रमानक वचन सुनि।

चार्वाक—बलि ने अष्टांग प्रनाम करयौ है और विनती करि है कि इतनो काम तो मै कियो है, वेदमारग तो छुड़ायौ। जे बड़े बड़े है ते अपने भावर की चाल चलन लागे। सो यह काम मोतें अरु कलि तें हूवे को नाहीं। तुम्हारे प्रताप तै होत हैं और कहूँ कहूँ जो आस्तिकता रही है तो आजीवका मात्र। और कछु विन्ती करत हौ सो सुनिए। आस्तिकता नामा जो जोगनी को चलन घटाओ है, तऊ जहाँ वह है ताको हम पै देख्यौ नाहीं जात है, महाराज यह बात को निश्चय जानो।

महामोह—(भय सहित विचार कर) या जोगनी को वड़ो प्रताप है; सुभाव ही ते हमारो बुरो चाहत है और हम तें वाको कछु बिगरवेऊ

को नहीं।

चार्वाक—इतनो सोच; जो काम क्रोधादिक सो मेरे सेवक हैं, तो कहां यह प्रगट होयगी।

[एक पत्र ले कर दौवारिक का प्रवेश]

महामोह—(पत्र ले कर) तू कहाँ ते आयो ?

पुरुष—पुरुपोत्तम नगरी तें आयो हूँ।

महामोह—(पत्र पढ़ता है)

'मद मान नै जु देवी मति और देवी शान्ति, माता श्रद्धा सहित विवेक को दूतीपनों देवी उपनिषद सो कहत है और यह कि काम को साथी धरम सोउ वैराग ने फोरचौ है।''

(क्रोध सहित) अहो शान्तिहूं तें भय माने है। (पुरुष से) वेगि जाय काम सो कहो धर्म दुष्ट है सो हम जान्यौ। तासों सावधान रहियो। गाढ़े वंधि राखियो।

पुरुष—जो आग्या। [प्रस्थान

महामोह—शान्ति के नास को न विचार करिये। (दौवारिक को पुकारता है)

[दौवारिक का प्रवेश]

क्रोध और लोभ कों बुलावो।

[क्रोध और लोभ का प्रवेश]

क्रोध—मै सुन्यौ है शान्ति, श्रद्धा, आस्तिकता महाराजा महामोह को द्वेष करत है—

मोह जीवत जो मोह को द्वेष करेंगे कोय।
अप जीवे ते आपही रह्यौ निरासी होय॥

हौ कैसो ही सब सृष्टि को अंध करौ, वहिर करौ, धीर को अधीर करौ, सज्ञान को अज्ञान करौ।

लोभ—मो विनु जग में एक नहि कहा शान्ति को जोर।
त्रिष्णा की लहरनि परे तिन्है पार किहि और॥

महामोह—शान्ति को श्रद्धा सहित तुम जाय के मारो।

[क्रोध और लोभ का प्रस्थान]

इति द्वितीयोङ्कः

करुणाभरण नाटक

चौपई

'सूरजगहन एक दिन भयो। सव जुग मिलि कुरुखेतहिं गयो ॥
श्री जदुराय परम सुखदाई। उनहूँ के मन मे यह आई ॥
कही द्वारिका जात निकेत। तातें चलो परसन कुरुखेत ॥
अधिकारिन को आज्ञो दीनी। उनि चलिवे की सव विधि कीनी ॥
सिगरी चलत परम सुख लहें। दुखी नगर रखवारे रहें ॥
हाथी, घोड़े, रथऽरु प्यादे। खच्चर सहित ऊँट उदमादे ॥
वरन वरन अम्वारी सेली। चौडोल सुख-पालकीऽरु डोली ॥
वनी वाहनी ओ रुक जाय। महल राज वहु साज सजाय ॥

दोहा

चल्यो कटक सव उमड़ि कें, ठौर न पावे कोई।
श्री जदुनाय प्रताप तें, सव को सव सुख होई ॥

चौपई

उमड़ि कटक कुरुखेतहि आयो। छिति छिपि गई महादलु छायो ॥
ओरु भूप जान को धाए। अगनित लोग न जात गिनाए ॥
जिन जिन आगे डेरा लए। सव हरि देव कटक मिलि गए ॥
भूल्यो सव जुग जित तित धाए। कोऊ अपने ठोर न पाए ॥
गहन न्हान व्रजवासी आए। सव सुख भारी भए सुहाए ॥
नन्द, महरु अरु श्री व्रपभान। गोपी गोप सु प्रेम निधान ॥

दोहा

दोऊ महरनि निकट करि, करी गहन की जान।
मिलि उतरे कुरुखेत पर, कहत न वनई वात ॥

चौपई

तहाँ इकु ग्वाल तमासे गयो। जाइ चौहटे ठाढ़ो भयो ॥
सीस ऐंट वा फेंटा वाँधे। हाथ लोटिया कामरि काँधे ॥
तन मन धात रु तनिया पहरे। गुंजन-माल ठरी (ढटी) रंग गहिरे ॥

सब ही कों सो देखनो भयो । इक जादो सों पूछत लयो ॥
"कहो कहाँ ते आपुन आए ? । छैल छबीले बने सुहाए" ॥
ग्वाल कही "तुम काके साथ ?" । उन कही "साथ द्वारिकानाथ" ॥
'देस द्वारिका परम सुहायो । पावन तीन लोक मे गायो ॥
यह सब कटक तहाँ ते आयो । तिनु अपनो विरतंतु सुनायो ॥
बड़ी उसास ग्वालइ तब लई । हिये कन्हैया की सुधि भई ॥
"इकु गुयौ मेरो तहाँ गयो । जाइ द्वारिका राजा भयो" ॥
कृष्ण नाम जब उनहीं लयो । लेत नाँव जादोंपति भयौ ॥
जादौ कही लखि के हाँसी । "हूँ जानत तुम हो ब्रजवासी" ॥
तब उनि कही "महर सब आए । साथ सकल ब्रज वासी लाए ॥
नंद जसोदा अरु व्रषभान । कीरति, राधा, गोपी आन" ॥
जादों कही "तुम्हारो मीत । जिनि चोरयो सब ब्रज नवनीत ॥
ताहीं को सब लस्कर परयो" । इती कहत वरज्यो गहवरयो ॥
जाइ कटक कूक्यो सो ग्वाल । "जात भईया आयो गोपाल" ॥
इहि सुनि के तन मन सब हरखे । सूखे धानन पर घन बरखे ॥
कोउ कहे झूँठ कोउ कहे साँच । खेंच खाँच को नाचतु नाच ॥
खान पान ब्रजवासी भूले । नंद जसोदा मातन फूले ॥
"जिन सकुनन हम ब्रजतें चले । तिन तें सगुन और नहि भले ॥
दौरहुँ देखहुँ ढूँढउँ भाई । कित उतरयो वह नृपति कन्हाई ॥
ग्वाल ग्वारनी कों अब माने । भूलि गये वे ठौर ठिकानें ॥
हम तन चितवत लागे हे लाज । अब महाराज गरीब निवाज ॥
श्री जदुनंदन नाँव कहाउत । वंदीजन चरनन बर भावत ॥
भूप भीर खरबर दरबार । जहाँ नृप खात छरिन की मार ॥
राजा पैठन पावत नाँही । हम गवार तहाँ कैसे जाही ? ॥
पै सब दररिद्वार तें जइए । वा द्वारे की मारो खइए" ॥
बालक वृद्ध तरुन नर नारी । मोहत मगन नहि सकत सँभारी ॥
इक गुनि [सुनि तरसनहारी । काँसों कहै लाज की मारी ॥
इक व्रषभान सुता पै जाहीं । मनमोहन देखे ता माँही ॥
पितु नृपति लख संध अगाधहि । सुख दुख दररि दबावत राधहि ॥
कबहुक बदन सेत ह्वै जाही । कबहुक रहै अरुनता छांही ॥

दोहा

कबहूँ आसा मिलन सुख, कबहूँ होत उदास ।
ज्यौ संध्या अधरात ससि, द्वे रंग करत प्रकास ॥

चौपई

नींची नारि पगनि तरु हेरे। उलटि उसास सकल घट घेरे॥
राज छत्र हरि माथे सुने। पगनि निहारे सुनि करि उने॥
राज तिलकु भयो सुनि मनु हारे। सो पग जाव कठोर विचारे॥
कित यों कान्ह करो ठकुराई। प्रीत प्रतीति न मन तें जाई॥

दोहा

सुनि सिंहासन कनक मनि, बैठत हे जदुराई।
सुरति सेज किसलेय करि, अकुल लुटइया पाई॥
रजत जटित भूपण धरे, सुनि सुधि करि मुसकाइ।
गुंजमाल माँगत फिरयो, सों सो हा हा खाइ॥
राज अवनि अब नहिं मिले, कोटि करो किन कोइ।
मोहि भरोसो श्याम को, मो मिलि मेरो होइ॥
कहा भयो रानी बहुत, सुन्दर सुवरन गात।
मेरी और गोपाल की, न्यारी है कछु बात॥
भोजन रस घृत ही बने, और लुबाई संग।
चोवा अरु फुलेल मिलि, सब रस भंग कुढंग॥
मुकता मानिक कनकपट, अमल अमोलक आहि।
पे वह लोहा चौप सौ, चिपटे चुम्बक चाहि॥
अब ऐसी आवत मनहि, आगे धौ कहा होइ।
विधि की गति अति अटपटी, जानि सके नहि कोइ॥

इति राधा अवस्था प्रथम अंक समाप्तः

अद्वैतांकु कहियतु है

कृष्ण कथा सुनि श्रोता जु के। समझवार एक ते एक पके॥
लछीराम कवि इहि विधि कही। सुधि बुधि सुनत न काहू रही॥
तब कवीन्द्र सुरसती सन्यासी। पंडित ग्यानी कासी वासी॥
शास्त्र वेद पुरान बखाने। अर्थ उपनिषद अनुभव जाने॥
कृष्ण कथा तिन नीकै सुनी। प्रथा करी तिन ग्यानी गुनी॥
अद्वेय ज्ञान रूप अविनासी। क्रिया सुनत मोहि आवे हाँसी॥
राग द्वेष जे सम करि जाने। कहूँ रस कहूँ रस के माने।
काम क्रोध मद मोहहि खोवे। ऐसी करे जबे निज होवे॥
एकनि भव-सागर तें तारे। एकनि मारि नरक पे डारे॥

कंसादिक केसी करि मारे। नंदादिक ते आनन प्यारे॥
सर्व रूप जोगी सुर पूरन। चेंटी ब्रह्मादिक लौं सम मन॥
जिनको समता आई भले। संसारित तें क्यों ले चले॥
जो जोगी निज तिय को तजे। ते जोगी पर तिय केई भजे॥
जो जोगी रहे पवन अधार। ते क्यों लीलें भीति पहार॥
जोगी तो निज पट परिहरे। कें पद माखन चोरी करें॥
जोगी घरही छाड़ि करि देहुँ। कें राजन मारि राज को लेहुँ॥
एक रूपता क्यों संभवे। इह संदेह महा तनु तवे॥
इह संदेह कहि विधि परे। जे हरि चरन जुगल अनुसरे॥

लछीराम उवाच

सुनो गुसाईं एक अनेक। यह तव लौं जव लौं न विवेक॥
जव विवेक हिये पै आवे। युगल चरन रज तव दरसावे॥
एक मन सपेन सव होई। ता मन को जानें नहि कोई॥
कर्महुँ कर्म सुपन में होत। ये कलंकित करत उदोत॥
मारहु जारहु वंधहु डंडो। धर्म कहो कि धर्महि छंडो॥
एक सुपन में मन सवु भयो। तो मन कहा एक ह्वै गयो॥
सव रूप हरि आपहि आप। ताहि न लागे पुराय ऽरु पाप॥
आपुहि व्रज कलिंदी वर वन। आपुहि वेनु, धेनु, गोपी जन॥
आपुहि कामी कामिनि काम। कुंज धाम अर जामिनि जाम॥
आपहि सरद ससिक प्रकास। आपहि संगीत सुरास॥
आपहि नारी पुरुष जो आप। ताहि कहा ह्वै लागे पाप॥
कंसऽरु केसी, वक अघ दुष्ट। गज अरु पल पूतना पुष्ट॥
और त्रिणासुर सकल वखानों। इन सुं वहुरि हरि देवे जानों॥
अपु जदुकुल अपु द्वारावती। अपुहि वसु प्रगट अरु दुती॥
सोरह सहस एक सो साठी। नाना पुतरी एके काठी॥
श्री हरि पूरन व्यापक नित प्रत। सतु चितु आनंद रूप सुमित॥
सूछम धूल दूर अरु नियरो। सेत लाल अरु कालो पियरो॥
जीवातम परमातम आपहि। कहो कहाँ लौं होंहि जही॥
मन अरु वुद्धि चित्त अहंकार। पर पाँचों इन्द्री विस्तार॥
जीभ नेन अरु नासा कान। तुचा सहित इन्द्री को ग्यान॥
रस अरु रूप गंध पुनि सइ। सहित पास विषयन की हइ॥
छित, जल, पवन, अगनि अरु काम। पंच भूत हरि देव प्रमान॥
—[illegible]स अरु खंडित काल। व्यापक नंद जगत के लाल॥

प्रान अपान समान उदात । एके हरि व्यापक सो ग्यात ॥
देवदत्त कूरम अरु नाग । संकर धनंजय सुनो सभाग ॥
पंच प्रान ए कान है जानो । अब शरीर की धातु बखानों ॥
रुधिर मांस अरु हाड़ गुदे । रेतु अंबर तुचा आदि दे ॥
जनम मरण तिथि गुरु अरु शिष्य । वरतमान अरु भूत भविष्य ॥
सेव्य सेवक अरु हे सेवा । ग्यान, गेय, ज्ञाता हरि देवा ॥
दृष्ट दरसन दृष्टि जु आहि । चारयौ मुकति जानि फुनि ताहि ॥
अरु बंधन, अग्यानऽरु ग्यान । एक रूप राजत भगवान ॥
माता पिता सुता सुत नारी । भाइ वहन एक गिरधारी ॥
शत्रु मित्र संजोग वियोग । सुख काया अधरांगी रोग ॥
वरनाश्रमऽरु असुचि सुचि गोत । आप अथकरी सबही होत ॥
आज्ञा रूप आप सब भयो । आप सु आप खेलन मन दयो ॥
एक वस्तु वहुत हे नई । तो कहॉ एकपने विधि गई ॥
जीते पंडित लोगु सिद्धान्त । सो तुम सुनो लोह दृष्टान्त ॥
एक लोह सो एहरनिन भयो । तेहीं रूप हथ्योरा लयो ॥
आपु संन्यासी आपुहि गह्यो । आपु आपु को पावक दह्यो ॥
आपुहि आप को पीटन लाग्यो । तो कहॉ लोह और है जाग्यो ॥
आपु आपु कों चपटो करे । फुनि आपु आपु हि गोल के धरे ॥
जो इन अपनो कीनो लांबो । तो कहां लोह है गयो तांबो ॥
करे ठिगनो आपुहि आपु । कबहुँ शीतल कवहुँ आगु ॥
आपु आपु को चीरे छेदे । तो कहा लोह पवन मे भेदे ॥
काटे छोले घिस घिस डारे । मेलो करे इस अंग उजारे ॥
आपुहि अपनो करि करि लीनो । नाना चित्र मोथरा पेनो ॥
जद्यपि अमित भांति है नई । लोह लोहता नेकु न गई ॥
एक वस्तु भई कहुँ ठाऊँ । नाना आकृति नाना आऊँ ॥
जो जाने सोई पै जाने । अरु अंजान सो नेकु न माने ॥
सों कविंद्र सरसती रिझाए । गाए वचन वेद के गाए ॥
जब कवीन्द्र सों लई परिख्यां । तब जानी सतगुरु की शिख्या ॥

इति अद्वैतांक समाप्तः

शकुन्तला उपाख्यान

सवैया

एक समय मुनिनायक कौसिक कानन जाय महा तप कीन्हों।
देह को दीन्हो कलेश महा मिटि मेष गयो न परै कछु चीन्हों।
वासर नेम कियो हो 'निवाज' निरंजन के पद मै चित दीन्हों।
साधि कै जोग को आसन यो इन्दरासन इन्द्र कौ चाहत लीन्हो॥
न्हैवै कों तीरथ कोऊ बचो न फिरथो सिगरी सरतानि के कूलनि।
चारिहू आगि के बीच मे बैठि सह्यो सविता सनताप के सूलनि।
धूम को पान अमान कियौ पग ऊरध बाँधि अधोमुख भूलनि।
चौसठि साल विशाल ऋषीश्वर खाइ रह्यो बन के फल फूलनि॥

घनाक्षरी

धूप के दिननि हेरे सनमुख सूरज सो
चाहे अरु प्रबल अनल वारि धरि कें।
जाड़े के दिननि यों रहत जल माही बैठि
रहत नदी मे जो गरेलो जल भरि कें।
देखि विस्वामित्र को विसाल नेम संयम
यों अति ही सुरेश सो सरल भयो डरि कै।
मैन को प्रपंच करिबे कों मघवा ने तब
मैनका बुलाई सनमान बड़ो करि कें॥

दोहा

आदर देखि सुरेस को हरखति हृदयो खोलि।
या विधि तब मघवान सों उठी मेनका बोलि॥

घनाक्षरी

और की कहा है ब्रह्म, हरि, हरहू कों जो
कहो तो मनमथ बस काम करि आऊँ सो।
मेरे महा मोह में ठहरि सकै छिन भरि
ऐसो तिहूँ लोक में न जोगी ठहराऊँ सो।

विस्वामित्र जू को जप तप नेम संयम
घरी मे खोइ आऊँ नेक आयसु करि पाऊँ सो।
मुनि के जो मन मीनकेतु ना नचाऊँ
महाराज की दुहाई मै न मैनका कहाऊँ सो।

छप्पै

गहि कर वीन प्रवीन निपट परवीन पियारी।
चढ़ि विमान असमान लोक तें भूमि सिधारी।
सोरह करि शृंगार पहरि द्वादश आभूषण।
लखत अंग की जोति गये छिपि शशि अरु पूषण।
तप भंग करन की वेलि सो फुरसति सौ फूली फली।
मूरति वनाइ निज मोहनी मुनि के मन मोहन चली॥

हरिगीत

मुखि चन्द को नहि होत अव लखि जोति जा मुख चन्द की।
लखि चरण कर सुखमा भजी सुखमा सरोरुह चन्द की।
लखि नैन जाके ललित खंजन मीन अरु मृगनैन की।
मुनि मैन के वस करन को उतरो तपोवन मैनकी॥
फहरात चंचल नैन कंचल निपट लचकत फंफ तें।
करत विविध कटाच्छ अलपत राग ऊँचे सुरन तें।
सुनि राग के मृदु सुरनि धुनि दृग खोलि दीन्हें ध्यान तें।
छवि लखत लूट्यो तप जु छूट्यो घुट्यो रिपि तप ग्यान तें॥

चौपाई

मारयो मन्मथ साधि सरासन। छोड़ि दियो मुनि जोग को आसन॥
जप तप संयम धरम नसायो। मोहि मैनका के ढिग आयो॥
अंग अंग सों आनि लगायो। जोग किये को फल मनु पायो॥
एक मुहूरत के सुख कारन। खोयो तपु करि वर्ष हजारन॥
पीछे निपट वहुत पछितानो। वा वन तें मुनि अनत परानो॥
गर्भ मैनका कीन्हों धारन। तव सो मन मे लगी विचारन॥
नर गर्भहि लै कै जो जाऊँ। तो सुरपुर महँ पैठि न पाऊँ॥
भई सुता नौ मास भये जव। गई मैनका सुरपुर को तव॥

सवैया

धर छोरि सुता को गई सुरलोकहिं दूध पियायो न एक घरी।
यह जांनि कें मानस की जनमी कछु मैनका नेकु दयाल घरी।

कुल माहिं न कोऊ जो राखे कहूँ वह काहे को धौं करतार करी।
सुधि लेवे कों कोऊ नहीं सँग मे वन सूने शकुन्तला रोवै परी॥
न्हैवे कों जाय कव्यो तिहि मारग देखि कें कन्व कृपा अति कीन्ही।
देव कि दानव के नर की किधों नाग की है न परै कछु चीन्ही।
सुन्दर ऐसी सुता किहि कारन को वन मे गहि डारि धौ दीन्ही।
रोवै अकेली परी वन में ऋषि आय उठाय शकुन्तला लीन्ही॥

दोहा

लीन्हे सुता शकुन्तला कलपत आश्रम आय।
कह्यो गोतमी वहनि सों याको देहु जिवाय॥

छप्पै

सुन्दर गात निहारि गौतमी गरे लगाई।
आयुर्वल तें जिअत नहीं करि जतन जिवाई।
करें कृपा ऋषि वहुत सचै सव के मन भाई।
सकल तपोवन मांहि कन्व की सुता कहाई।
दिन दिन कन्या वढ़त प्रभा छवि अंग अंग फैलन लगी।
गहि वाँह सखिनि के संग मै द्रुमन छाँह खेलन लगी॥

दोहा

शकुन्तला संग दुइ सखी रहतीं आठों याम।
इक अनुसूया नाम अरु प्रियम्वदा इक नाम॥

सवैया

वैस में तीनों समान सखीं दिनहूँ दिन तीनहुँ प्रीति वढ़ाई।
प्रान तिहूँन के ह्वै रहै यों इक देह में तीनहुँ देह दिखाई।
शोभा तिहूँन के अंगनि की कवि के तौ कहै वरनी नहिं जाई।
राखि तिहूँन के अंगनि में विधि तीनहुँ लोक की सुन्दरताई॥
काम कमान चढ़ाइ मनो जवहीं कसि कें कहुँ मौहनि फेरै।
वात कहै हँसि कै जवहीं तव श्रौननि माहिं सुधा सी निचोरै।
जा मग ह्वै कै धरे पग ता मग आनि अनंग अगारु ह्वै दौरै।
सुन्दर हैं वह तीनों सखी पै शकुन्तला की छवि है कछु औरै॥

दोहा

कछुक दिनन में कन्व मुनि बन तें कियो पयान।
आश्रम राखि शकुन्तला तीरथ चल्यो नँहान॥

सवैया

कछु खैवे को माँगो चहो जबही तबहीं तुम गौतमी सों कहियो।
रिषि आवे जो कोऊ इतै तिहि को करि आदर पाइन को गहियो।
यह सीख शकुन्तलै दे जु गयो ह्वै उदास कछू करियो न हियो।
कछू द्यौसनि मे फिर आवतु हों तब लों तुम आनंद सों रहियो॥

चौपाई

लागी रहन वाग विच वन में। भई उदासी कछुक दिनन मे॥
आश्रम कोउ अतीत (थ) जो आवै। ताकों आदर निपट दिवावै॥
पासहि के तंदुल गहि लावै। मृग छौननि कों आनि खवावै॥
पानी भरि मूलनि ढरकावै। छोटे छोटे द्रुमनि बढ़ावै॥
सोई करे जो यह कछु भाखै। जिय तें अधिक गौतमी राखै॥
शकुन्तला को सुख वहु चाहति। दोऊ सखियन संग में राखति॥
बाल वैस वहु द्यौसि विताई। झलकनि लगी कछुक तरुनाई॥

घनाक्षरी

विसरन लागी बालापन को अयानपन
सखि सो सयानप की वतियाँ गढन लगी।
दृग लागे तिरिछानि चालै पग मन्द लागे
उर में कछुक उसांसे सी चढ़न लगी॥
अंगनि मे आई तरुनाई की झलक
लरिकाई अब देह तें हरें हरें कढ़न लगी।
होन लागी कटि या बचटि कें छला सी द्वैज
चन्द्र की कला सी तन दीपति बढ़न लगी॥

चौपाई

वनहूँ में नहि दुरति दुराई। शकुन्तला की सुन्दरताई।
जनु विरंचि कर आपु वनाई। देखे तें मन सुधा सिराई॥
वह उपमा वरनी नहि जाई। पूर्व कथा भारत में गाई॥

घनाक्षरी

मृगन के चर्म ही को पहिरें दुकूल और
भूपन कहा है न गरे में जाकें पोति है।

तोऊ जाके अंग अंग रूप के तरंग उठैं
सुन्दर अनंग मानो अंगनि की सोति है।
देह में 'नेवाज' ज्यों ज्यों जोवन वढ़त जात
त्यों त्यों हरि दिननि वढ़त जात जोति है।
छिन ओर देखिये, घरी में कछु ओर ओर
छिन छिन घरी घरी औरै दुति होति है॥

दोहा

सुन्दर वैसो वर मिले, शकुन्तला ज्यों आप।
करिहैं ताकों व्याह यह, करी प्रतिज्ञा वाप॥
लागी रहे शकुन्तला, वन में यह परकार।
एक समय दुष्यन्त नृप, खेलन कह्यो शिकार॥

घनाक्षरी

रथ असवार दौरे देखि के शिकार नृप
कीन्हों श्रम इतनो न जाको कछु माप है।
दिन चढ़ि आयो वढ़ि वढ़ि अति दूरै पैन
पायो तोऊ यातें चढ़ि आयो तन ताप है।
जाय न जकाने छोड़े पौन के समाने दौड़े
वान सो मिलाय खैंचि कान लगि चाप है।
आगे ते हरिन भागो ताके नृप संग लागो
पीछे सब सैना पीछे हरिना के आप है।

सवैया

टोंक लगाय करेरी कमान में कान लों खैंचि लियो सर सारधो।
चोट करै जब लौं तव लौं ऋषि लोगन दूरि तें आनि पुकारयो॥
रक्षा ऋषीश्वर लोगन की करिवे कों भयो अवतार तिहारो।
हा हा रही महाराज हमारे तजो वन को मृग है मत मारो॥

चौपाई

रिपि लोगन यह टेर सुनायो। मृग पर नहि नृप वान चलायो।
वागें गहि रथ ठाढ़ो कीन्हों। आशिर्वाद रिपिन तव दीन्हो॥
करि प्रणाम नृप पूछी यह तव। कहो कन्व को आश्रम कहँ अव।
आज पाप पुंजनि परिहरें। मुनिवर को चलि दर्शन करें॥

यह सुनि रिषिन वहुत सुख पायो। आश्रम निपट नगीच वतायो।
महाराज अव कछु दिन भये। तीरथ करन कन्व मुनि गये॥
शकुन्तला वेटी करि पाली। सौप्यो ताकहँ आश्रम खाली।
जो महाराज वहाँ लगि जैहै। यह सुनि कन्व महा सुख पैहैं॥
तीरथ न्हाइ जवै मुनि अइहै। शकुन्तला तासो पुनि कहिहैं।
यह सुनि वचन नृपति मन वैठ्यो। रथ तें उतरि तपोवन पैठ्यो॥
रथ सारथी समेत टिकायो। आश्रम निकट आपु चलि आयो।
दच्छिण वाहु लगी तव फरकन। प्रफुलित भयो महीपति को मन॥
कछुक दूरि आगे जब आयो। सगुन भयो ता कर फल पायो।
अद्भुत रूप वैस में नई। वाला तीन नजरि परि गई॥
शीत घात तें नहिं कछु डरें। सब आश्रम की सेवा करैं॥

हरिगीत

सेवा न आश्रम की तजै अति श्रपित ह्वै ह्वै आवतीं।
कोमल कमल से करनि सो क्यारी नवीन वनावती॥
सिगरो तपोवन सींचिवे को सलिल श्रम करि ल्यावतीं।
छोटे द्रुमन के तटनि भरि भरि घटनि को ढुरकावतीं॥
सींचति द्रुमन के थकि गई तन रह्यो श्रम जल छाय है।
अति सिथिल सव अंग ह्वै गये डगमगति धरतीं पाय है॥
खुलि केस पास रहे विथुरि भरती उसांस अनन्त हैं।
तीनों सखीं यो सोहतीं मानों भये सुर तन्त हैं॥
विच द्रुमन के ह्वै जाति वाहर निकसि जोवन की छटा।
खुलि गए कच यों तड़ितहुँ पर गिरि परी मनु घन घटा॥
सिगरे तपोवन में लसित यो गगन मे ज्यों शशि कला।
यह रूप सो श्रम मुनिन के सो करत वस शाकुन्तला॥

घनाच्छरी

वानी कहिये तो वह वीन को लिए ही रहे
गौरी तौ गिरीस अरधंग में लगाई है।
कमला न कान्ह के हिय तें उतरति अरु,
रमा के सरूप मे न एतो अधिकाई है।
रति कहिए तो या विरोध अति ही है अरु
याके तो अजौ लगि कछुक लरिकाई है।

फेरि फेरि बेरि लगि हेरि हेरि हारयो नृप
जानि नाहि परी यह को है कहाँ आई है ॥
निरखि शकुन्तला को नख सिख रीझि रह्यो
आपु तो महीपति निछावरि सो कीन्हो सो ।
भयो है अचम्भो रति रम्भो है न ऐसी आस
रूप को बखान भयो है बुधि-हीनो सो ।
कहत 'नेवाज' सोभासिन्धु में सयाने नैन
मन जनु मैन के हवाले करि दीन्हो सो ।
बाढ्यो उर प्रेम गहि चित्र लिख काढ्यो मनो
ठाढ्यो नृप ह्वै रह्यो ठगो सो मोल लीन्हो सो ॥

दोहा

शकुन्तला को रूप लखि सुफल भये नृप नैन ।
श्रवन सुफल चाहत भये सुनि सुनि मीठे बैन ॥
सघन द्रुमन की ओट ह्वै दृग निमेख बिसराय ।
दुरे दुरे देखन लगो शकुन्तला के भाय ॥

चौपाई

राजहि ये देखहि नहि कोऊ । पूछन लगीं सहेली दोऊ ॥
शकुन्तला जो सींचत जेते । मुनि के द्रुम प्यारे कहि तेते ॥
मुनि कें तो प्रानन तें प्यारी । करी द्रुमनि की सींचनि हारी ॥
विधि अति ही सुकुमारि सम्हारी । श्रम लायक नहि देह तिहारी ॥
बतकहाव यों सखियन कीन्हो । शकुन्तला यह उत्तर दीन्हो ॥
ये द्रुम जे सब देत दिखाई । मैं जानति ये हो मम भाई ॥
मुनि के कहे नही मैं सींचति । मोहि मया लागति इनकी अति ॥
हरिन चरम की पहिरें आंगी । कसि बँधि गई गडन उर लागी ॥
कर सो अँगिया खुलत न खोली । अनुसूया सो तब यों बोली ॥
प्रियंवदा कसि बाँधी छतियाँ । अनुसूया ढीली कर अँगिया ॥
अनुसूया हँसि अँगिया खोली । प्रियंवदा तब रिस करि बोली ॥
उकसति आवै छिन छिन छतिया । याते गाढी ह्वै है अँगिया ॥
बढ़त जात जोवन की लीला । नाहक मेरा करती गीला ॥
शकुन्तला सुनि के सरमानी । सींचन लगी द्रुमन भरि पानी ॥
अलि इक छोड़ि कुसुम उड़ानो । शकुन्तला मुख पर ठहरानो ॥
सुमुखि सुगन्ध पाय करि मधुकर । बैठ्यो जाय मधुर अधरन पर ॥

ससकि हाथ तबही झहराओ। उड़ि अलि गयो फेरि फिरि आयो ॥
शकुन्तला ह्वाँ तें टरि आई। पीछे भ्रमर लगो दुखदाई ॥
शकुन्तला पुनि जित जित डोले। तिति तिति भ्रमर गुंजरत बोले ॥
राजा निरखत मन अनुरह्यो। मन मन मधुकर सो अस कह्यो ॥

घनाक्षरी

ओठन समीप आनि गुंजत औ मंडरात
मानो बतक ही की लगावत लगन ही।
चंचल दृगनि की पलनि करी छोभित हूँ
छुओ फिरि आनि कर कपोल फलकन ही।
प्यारी ससकनि फहरावति करति तुम
उड़ि उड़ि बैठत पियत अधरन ही।
दुरि दुरि दूरि ही ते देखत खड़े रहत
मानो हम कौने काज मधुप तुम धन्य हो ॥

चौपाई

शकुन्तला केतो कछु करै। संग ते मधुप न टारयो टरै ॥
वन में मधुकर बहुत सताई। शकुन्तला यह टेर सुनाई ॥
सखियहु मो ढिग अरबर आवहु। या पापी तै मोहि छुडावहु ॥
काटत आय टरत नहि टारै। होतु नाहि कछु हाथन झारै ॥
निरखि सखिन यह हास बढ़ायो। हम कों तो बिन काज बुलायो ॥
या गनीम सों आनि बचावै। नृप दुष्यन्तहि वेगि बुलावै ॥
तब नृप निकसि द्रुमन तें आयो। कहो कहो किह तुमही सतायो ॥
निरखि नृपहि बिन मोल बिकानी। तीनों छकीं डरीं अकुलानी ॥
ठाढ़ी रहि न सकी नहि डोलें। जकि सों रहीं कछू नहि बोलें ॥
अनसूया तब मन दृढ़ कीन्हों। महाराज [illegible] उत्तर दीन्हों ॥

घनाक्षरी

जाके तेज होत न अनीति कहूँ नीति माहों
पानी एक घाट में पियत सिंह गाय हैं।
जप तप करत [illegible] निर्भय
तपोवन [illegible] नहिं आय हैं।
काहूँ न सताई [illegible] कुन्तला
उड़ि [illegible] भौन [illegible] है।

अति ही अभीत महाराज श्री दुष्यन्त ताके
राज में रिपिन कौन सकत सताय है ॥

दोहा

शकुन्तला को ताकि तव पूछी यह महिपाल ।
कहो तिहारे कुशल है छोटे द्रुम मृगवाल ॥
कम्प वढ्यो तन कंटकित मुख तें कढ़त न वैन ।
जकि सी रही शकुन्तला निरखि नृपति भरि नैन ॥

चौपाई

शकुन्तला को वोलि न आयो । अनसूया यह नृपहि सुनायो ॥
क्यों न होय अव कुशल हमारी । तुमसे साधु करत रखवारी ॥
प्यादें श्रम करि तुम ह्यॉ आये । श्रम जलकन आनन मे छाये ॥
शीतल छॉह सघन तरु डारै । वैठो इत हम पॉय पखारै ॥
लखे भाग्य तें चरन तिहारे । आजु दिवस तुम अतिथि हमारे ॥
शकुन्तला क्यों भई अयानी । ल्याउ पियन को शीतल पानी ॥
तव नृप वैन मैन रस साने । देखत हीं हम तुम्हें अघाने ॥
मधुर मधुर कहती तुम वानी । यहै हमारी है मिजमानी ॥
तुम हूँ थकीं सलिल के सींचे । वैठो घरिक द्रुमन के नीचे ॥
तव वोली अनसूया वॉकी । विहॅसति शकुन्तला को ताकी ॥
अद्भुत आज अतिथि जो आए । सिगरे कहत वचन मन भाये ॥
इन कर डर न कछुक मन आनो । इन कों कहन उचित के जानो ॥
यह सुनि शकुन्तला छाया मे । वैठी मोहि नृपति माया में ॥
शकुन्तला के हिय में पैठ्यो । छिति पाली छाया में वैठ्यो ॥

घनाछरी

भागन तें वन में दुहुन भट मेरो भयो,
खोलो भगवान आज दुहुन को भालु है ।
दोऊ दुहुँ देखत अघात न धुन नई
लगन को दुहुन कै साल्यो उर सालु है ।
मन मे दुहुन के मनोज वान लागे संग
एकै रंग दुहुन को भयो एक हालु है ।
हिये मे महीप के शकुन्तला समानी सो
शकुन्तला के हिय में सयानो महिपालु है ॥

चौपाई

दोउ सखी दोहून निहारैं। कोटि काम रति की छवि वारैं ॥
शकुन्तला करि नैन लजोहैं। निरखति नृप कों तकि तिरछौहैं ॥
नृप मुख तें यह वैन निकारो। भलो बनो संयोग तिहारो ॥
एकै रूप वैस एकै हो। देहैं तीन प्रान एकै हो ॥
या सुनि के नृप की कछु बोली। अनसूया फिरि नृप सों बोली ॥
धनि यह देश जहाँ तुम आये। विघ्न होत रिपि यज्ञ वचाये ॥
देव गन्धरव के मनमथ हो। चले पियादे क्यों यह पथ हो ॥
करहु कृपा संदेह मिटाओ। नाम आपनो हमें बताओ ॥
तव नृप आपन भेद छिपायो। कही हमें दुष्यन्त पठायो ॥
यह खिदमत करि देइ हमारी। रिपि लोगन की वन रखवारी ॥
फिरत तपोवन मे निशि वासर। नृप दुष्यन्तक हौं मै चाकर ॥
कहि ये बचन महीप चुपाने। अनसुय्या पुनि उत्तर टाने ॥
अव-रिपि सर्व सनाथ कहाये। तुम से साधु तपोवन आये ॥
भलो आनि तुम दरसन दीन्हो। हम लोगन किरतारथ कीन्हो ॥
वतरस में अति ही सुख पायो। फिरि महीप यह वचन सुनायो ॥
शकुन्तला यह सखी तिहारी। विधि अति ही सुकुमारि सम्हारी ॥
मुनिवर चाहि व्याहि कहु देहैं। कै अव यासो तप करवैहें ॥
याको अंग न है तप लायक। कहा विचार कियो मुनिनायक ॥
तव अनसूया उत्तर दीन्हो। कन्व महामुनि यह प्रण कीन्हो ॥
शकुन्तला सम सुन्दर ह्वै है। करिहौ शकुन्तला जो कहिहै ॥
ऐसो वर काहू लखि पैहौ। तवहि याहि व्याहि तहँ देहौ ॥
अनसूया यह कही कहानी। शकुन्तला सुनि कें सरमानी ॥
यह सुनि कै बोल्यो अवनीपति। शकुन्तला की लखि तन दीपति ॥
पहिलें वात विचारि न लीन्हो। मुनि यह कठिन प्रतिज्ञा कीन्हो ॥
शकुन्तला जैसी है सुन्दर। कहो कहाँ मिलिहै वैसो वर ॥
ढूँढि जगत मुनिवर फिरि अइहैं। शकुन्तला अनव्याही रहिहैं ॥
तव अनसूया फिरि हँसि वोली। खानि चतुरता की मनु खोली ॥
जव विरंचि नीके दिन ल्यावत। मनवांछित वेटें घर आवत ॥
तुम से साधु कृपा उर धरिहैं। सुफल प्रतिज्ञा मुनि की करिहैं ॥
नृप जव पाई सुनि यह वानी। शकुन्तला अति ही सरमानी ॥
प्रियंवदा विहँसति [illegible] नी। शकुन्तला के लगि कानन में
कही आज जाती [illegible] है। [illegible] कहा कन्व घर
शकुन्तला भरि [illegible] । [illegible] तिरीछे फिरि फिरि

राजा शकुन्तला पर अटक्यौ। राजहि ढूँढत सब दल भटक्यौ॥
आई फौज निकट वजमारी। वन में शोर भयो अति भारी॥

सवैया

घोरनि की खुर थाहरनि कीं रज सों सिगरो नभ मंडल छायो।
जंगली जीवन घेरिवे कों चहुँ ओर करोलनि को गनु धायो॥
खेलत फौज समेत शिकार नजीक दुष्यन्त महीपति आयो।
रे मृग आपने आपने बाँधहु यो रिपिलोगन शोर मचायो॥

चौपाई

सुनि यह शोर सबै अकुलानी। धक धक धरनि मुखनि कुहिलानी॥
करन न पाये नृप यह लीला। मन मन करत फौज को गीला॥
अनसूया प्रेम-रस सो सानी। यों कहि उठी नृपति सों बानी॥
कंपन लागी डर सों छाती। अब हम सब आश्रम को जाती॥
श्रम करि तुम आये आश्रम को। उचित तिहारी सेवा हमको॥
सेवा हम कीन्हें बिनु जातीं। यह विनती हम करन लजातीं॥
दोष हमारो मन नहि कीजे। एक बार फिरि दरशन दीजे॥
शकुन्तला कों कर सो गहि कै। चली सखी यह नृप सों कहि कै॥
फैली तन मन व्याकुलताई। राजा चल्यो फौज यह आई॥

दोहा

तनु आगे मनु जातु है शकुन्तला तनु जातु।
सनमुख पीत निशान पर पीछे ज्यों फहरातु॥
या विधि अति ही दुचित ह्वै उतै चल्यो महिपाल।
शकुन्तला को इत चलत भयो निपट बेहाल॥

घनाक्षरी

उरझोई द्रुमन दुकूल सुरझावै लागि
काढनि लगति कंटक बहु पगनि सों।
कबहूँ नेवाज खुले केसन कसन मैं,
कबहूँ अँगिरान लागति अंगनि सों।
ऐसे छल छिद्र कै कै ठाढ़ी ह्वै रहति
शकुन्तला निपट भई व्याकुल लगनि सों।
सखियन की नजरि निवारि निवारि नारि
फेरि फेरि महिपालहि देखे दृगन सों॥

इति श्री सुधा तरंगिन्यां शकुन्तला नाटक प्रथमोऽङ्कः॥

सभासार नाटक

दोहा

सिधु रूप सरसुति सुमरि, परमउ गति परि पाय।
सुमन वरण चढ़ि हंस पर, सो नित होत सहाय॥
वंदौ व्यापक विश्वमय, सचर अचर सब ठॉव।
किए खिलौना खण्ड कै, जुदे जुदे ज्यौ नाम॥
नयन बुधि अरु मोह निश, तम भ्रम तहॉ अपार।
वंदौ गुरु विश्राम पद, सद सूरज इहि वार॥

सोरठा

इक जग मे बहु बार, फिरि आवत फिरि जात है।
थिर नहि रहत लगार, कहा विसास या सास कौ॥

कवित्त

पायो नर देह पै सनेह ममता सो कीनो
अपनो परायो कहॉ एतोहूँ न कीन्हो हूँ।
माया मे मिल्यो हूँ पै न माया कहूँ मोहि मिली
प्रभु सो कपट कीन्हो अबहूँ लौ न सूझ्यो हूँ।
स्वारथ पै छायो पै न आयो परमारथ पै
सॉच सों न सॉच पंच विषयनि सो गूझ्यो हूँ।
मेरी देह मानिके बनायो बहु भॉति भेष
ऊपर सरूप्यो कही अंतस अरूप्यो हूँ॥

दोहा

ज्यों सब संगति जानिये, प्रभु सो कहो पुकार।
सकल सभा वर्णन कहूँ, नृपति आदि निरधार॥
सब लच्छनि पहिले सुनो, पुन्य सुसंगति पाय।
मन चंचलता जानि जग, नीच न संग सुहाय॥

कवित्त

संगति सुभाव ज्ञाति गॉव को विचारि करि
उद्यम सुहाय सुनि देखि उर आनिए।

जानिकै कुलच्छिन सुलच्छिन सकल विधि
नैनन में रूप देखि बैन पुनि छानियें।
मोल तोल माप विनु भारी है परीछा जाकी
सरस कसौटी परैं काज की बखानियें।
कीमत अपार तेज रूप के प्रकार जा में
नर से अमोल नग ऐसे पहिचानियें॥

दोहा

पशु पंछी अरु वन संपत्ति, सवन धान नग जानि।
नर है ऐति जाति के या विवेक पहिचानि।

राजवर्णनम्

करि एड़ी राजी कटक, सद प्रधान करि सोंप।
सर अधर सत्र साधि नृप, चतुर राज की चोंप॥
नेत्र श्रवन पातालपति, सवन नेत्र महिपाल।
चार नेत्र चहिए चतुर, सुर उर भाल विसाल॥
पंच नेत्र के नृपति के, धुर सुगन्ध सों धोई।
राजनीति अंजनि करे, तो यह अन्ध न होई॥

छप्पय

पुन्यसील, प्रजापाल न्याउ प्रतिपच्छिन कोई।
कर सौंपे अधिकार, आप सम जानें सोई।
रस भापा रस निपुनि सत्र उर में नित साले।
जो जिहि लायक होइ, ताहि तैसी विधि पाले॥
सुख-करन भयऽरु सागर सरिस रत्न-ग्राह लीयें रहें।
लच्छन अनंत महिपाल के, सुबुद्धि प्रमान कविवर कहे॥

सोरठा

सभा समुद्र अपार, गुनपय ओगुन नीर जिय।
राजा हंस विचारि, करे सु देखे काढ़ि के॥

प्रधान लच्छिन

दोहा

धरा धेनु भूपति धनी, दुहन हार दुजदार।
खेती बच्छ विचारिवे, वहुरि सुनहु विस्तार॥

दूध दोहनी राखि कै करे स्वामी के काज।
सदतासदधो सों कहे, जाहि राज की लाज॥

चौपाई

दूध दोहनी दोदू राखें, नृप आगे मिथ्या नहि भाखें।
राजा रैयत राखे राजी, इहि विधि अपनी साधे वाजी॥
सकल समान बुद्धि के सागर, काज परे कबहूँ नहि कायर॥
स्वामी सेवा इहि विधि करै, कबहुँक आनि मुजरा करै॥

कवित्त

देस आवादान सब कागद में सावधान
समय सब जान दीठि राखे सब छोर हैं।
नाहित डिगत जो पैं जगत डिगाय देत,
स्वामी के सुधार पर जाकी एक दोर है।
ज्यों ज्यो गर वात त्यों नवत ज्यों कल्पतरु
करत विचार जो सकल सिरमोर है।
भीर परे करत निवाह ज्यों गयंद रह
खायवे के औरऽरु दिखायवे के और है॥

स्वामी धरम दोहा

संग कुसंगति पाइ कें, जिनके अटल विवेक।
मुख पर पीछे स्वामि के, एक रंग को एक॥

छप्पय

सकल धर्म सिर छत्र वेद पुनि सास्त्र वखाने।
तप तीरथ व्रतदान नही यह धर्म सयाने।
धरि मन यह निरधार सार सेवक पन जाने।
जाहु सीस सरवस्व और मन में नहि आने॥
इहि भाँति सब करत काज, तब स्वामि धरम सिर पर धरे।
धर पाइ चलत असिधार, पर प्रभु तिन को वहन करे॥

सोरठा

प्रभु जो कहे प्रधान, सब ऐसे नाहिन सुनें।
तातें रहत प्रमान, सो नीके समुझाइए॥

चौपाई

गम खाइक सरवंगी कहे, कपट लिए जे मन में रहे।
गम खाई कपटी अपार, बेवकूफ अरु ग्रानतदार॥

गमखाइक अरिल्ल

जिनके सरत न काज सुगारी देत है।
उत्तर नाहिन देत सबै सुनि लेत है।
नीकें करत निगाह औगुन आ नहीं।
सो गमखाइक जान सबही पहिचानहीं॥

आनन्द रघुनन्दन नाटक

पात्र

सूत्रधार
मारिप
पारिपार्श्वक
सचिव

दिग्जान	—	दशरथ
हितकारी	—	राम
डहडह जगकारी	—	भरत
डील धराधर	—	लक्ष्मण
डिभीदर	—	शत्रुघ्न
जगद्योनिज	—	वशिष्ठ
भुवनहित	—	विश्वामित्र
शीलकेतु	—	जनक
संतमोद	—	जनक के गुरु
महिजा	—	सीता
सुरासुर	—	वाणासुर
दिग्शिरस	—	रावण
रैणुकेय	—	परशुराम

भाव, शिष्यगण, सभासद, भाट, नट, नटी, विदूपक, नर्तक, मंत्री, द्वारपाल, खण्ड, पथिक, घातिनी (शूर्पणखा), वंदीजन,

प्रथम अंक

[नान्दीपाठ]

अशरण शरण शरण दश-मुख मुख दलन दलि दलिहै।
अकरन करन करत धनु शर प्रण उधरत रन चलि चलिहै॥
सदयन सदय सदय सद कर कर जनन जनन पर रति है।
जस जग जगत गनत नत गुण गण गणप अहिप पशुपति है॥
मृदु-पदु पदुम पदुम महिपन मन अलि अलि रहि रमि रमि है।
चख चल चलनि करति [illegible] वस सुवय बयन अमि अमि है॥

अति मद मदन मदन मर्दन सर सरस तरस पतितन है।
जय जय जपत विबुध बुध छन छन मम पति पति त्रिभुवन है॥

[नांद्यंते—]

सूत्रधार—अरे मारिप, मोकों राजकुँवर की नाट्य करिबे की आज्ञा भई। ऐसे समय जो सहायक तैं मिल्यो तो बड़ो काज भयो।

मारिष—अरे, बड़े बड़े नाट्य वाले ह्यॉ नाट्य करि गये हैं, हमारो नाट्य कब काहू को नीको लगिहै।

सूत्रधार—(क्षणमनुध्याय आकाशे कर्णं दत्वा) कहा कहियतु है! (पुनः प्रहस्य) वाहवा, वाहवा; महा आनन्द, महा आनन्द; 'मम प्रसाद आकसमाद तोको अनुपम नाटक मिलैगो' ऐसी बानी की बानी सुनी परे है।

[पारिपार्श्वक का प्रवेश]

पारिपार्श्वक—अरे सूत्रधार, परम उदार राजकुमार आगे वह पुकार विस्तार करु के कें; राजद्वार वार अवतार पुत्र उत्साह में जो हम तुम करो हुतो।

सूत्र०—अरे पारिपार्श्वक, ऐसे कौन नाट्य है जौन इहॉ नहीं भई? मेरे कहा मति अकुलानी तेरी; तैं नहीं सुनी की मोकों बानी की बानी भई है की तोको 'मम प्रसाद आकस्माद अनुपम नाटक मिलैगो?

[इति प्रस्तावना]

[भाव का प्रवेश]

भाव—त्रिकालज्ञादिकत्रेः पत्रिकेयम्।

सूत्र०—(प्रणम्य गृहीत्वा वाचयति)

वहु विधि आशिप शिष्य हमारी।
है इत कुशल कुशल तुव चाहैं, होवे निरमल बुद्धि तिहारी॥
दिगसिर अघ भू भूरि भार भव, वदन विधाता विनय कराई।
अब उदार अवतार परम प्रभु लैहै पुहुमि परम मुददाई॥
ताके गुन गन भरित चरितमय काव्य संस्कृत रची अगारी।
नाट्य करन परिहै प्रभु आगे पेखत ह्वै है तेऊ सुखारी॥
श्री जैसिह भुवाल विधिपति सुत विसुनाथ सिंह जेहि नाऊँ।
सो नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' भापा रचि है आउ पढ़ाऊँ।

[भाव का प्रस्थान]

अरे भाव! वाहवा, वाहवा; ऐसे समय भली चीठी दई।

[शिष्य का प्रवेश]

शिष्य—पूजन की तयारी करो, देखौ नाहीं हौ गुरु चले आवैं हैं।

केते शिष्य साथ में कमण्डल लिए हैं हाथ
दीन्हें ऊर्ध पुंड हैं सविंदु वर माथ में।
सोहत जटा विशाल कंठ कंठी उर माल
पहिरे कोपीन आल धोई गंग पाथ में।
तुलसी के भूषन किए हैं कल अंग अंग
लाल रंग नैन छके प्रेमहि के गाथ मे।
गजमति आवें मति हरि के चरित्रन में,
श्रौन वेद पाठ मन विस्वनाथ नाथ में॥

[समित्पाणि का प्रवेश]

सूत्र०—भो गुरो ! दंडवत प्रणाम।

गुरु—वत्स चिरंजीव।

सूत्र०—प्रभु पत्रिका पाई, शीश चढ़ाई : आपु कृपा महाई, निज भाग्य अधिकाई, मेरी मति परम मुद छाई; सुकृत फल घरी अब आई—ऐसो जानि प्रभु पद दरश कीनो। अब होनहार आनन्द रघुनंदन नाम नाटक प्रकार पढिवे को मेरी मति त्वरा करै है।

गुरु—वत्स भली कही; पढिही लेहु।

सूत्र०—आपु प्रसाद अनुपम नाटक मोकों आयो।

[नेपथ्य मे कोलाहल]

भूप दिगजान पायो पूत भगवान हो जी वाहवा है।
मोद विप्रमान छायो सकल जहान हो जी वाहवा है।
धाय धाय रंग बोरि देहु नारि अंग हो जी वाहवा है।
विसुनाथ दंग सब खेलो एक संग हो जी वाहवा है॥

गुरु—(सहर्ष, ससंभ्रम) अहो महो सोहिलो सोर त्रिभुवन पूरन करै है, कहा ईश ईशावतार भयो ? अब अकथ मुदमंडिता मुनि मंडली अपराजिता नाम नगरी जायगो, हमहूँ चलै।

[सब का प्रस्थान]

विष्कम्भक

[सचिव का प्रवेश]

सचिव—मारगन सुगंध सलिल सिंचावो, गिलिय विछाओ, सिंहासन गद्दी धरावो, सकल छिति एकछत्र, सर्व छितिपति नक्षत्र नक्षत्र पति से दिग्जान महाराज आवें है। (पुनः श्रवणं दत्वा) अरे सोर सुनो जाय है महाराज दिग्जान वार हों चार करि, द्वार लों आइ, मुनि मंडली को सत्कार करै है।

[महाराज दिगजान का प्रवेश]

(उठकर) महाराज सलामत; महाराज सलामत।
छत्र चौंरन वलित भूपित भूपन ललित कलित आनंद आनन सुहायो
चोपदारन सोर चारु अति चहुँ ओर गान जांगर नर सभरित भायो।
सूत मागध वंदि करहिं वंदन वृन्द इन्द्र इव आय आसन विराजो
पूत उत्साह अपराजिता नाह लखु देत वकसीस विसुनाथ भ्राज्यौ॥
(अंजलि बध्वा) महाराज वार हौं को चार अनुपम सुनि बड़ो सुख भयो; गुर धराये चारिउ चिरंजीव लालन के ललित नाम ते सुनिये को मति अति उत्कंठा करे है।

[नृप लज्जा सहित नाम लिखते हैं]

(आनन्द सहित) हितकारी; डहडह जगकारी; डील धराधर; डिंभीदर।

सभासद—वाहवा, वाहवा, भले नाम हैं।

मंत्री—महाराज देखिए भाट, नट, विदूपक, नरतक आवे हैं।

कई रंग पाग लाल चंदन ललाट लाग
अंकुश वॅध्यो है जामें भाल लिए हाथ में।
कम्वर कटारी कंठ कंदुला कुकाठ धारी
याहि भाँति ओरी भाट केते लिए साथ में।
आशिप समूह पढ़ै छंदन के व्यूह बाँधि
पावत अनन्द लोग रसन के गाथ मे।
करत प्रणाम वार वार विस्वनाथ आवे
सभा तकि धारे दोनों हाथ निज माथ मे॥
मैं अस मनहि विचारयो यह तो भट्ट है।
काँधे ढोल हाथ लकुरा यह तो नट्ट है।
यहँ विदूपक नटी ओर तकि हँसत है।
विस्वनाथ यह नरतक भाव सो लसत है।

भट्ट—(किंचित् समीपमागत्य)

आपको सुयश दस दिसनि अनूप छायो,
सेत दिगपाल भने चीन्हें के कोऊ न जात।
डंकनि के शब्द सशंकि सुनि वंक शत्रु,
दरके दिलन नेक वदन कढ़े ना वात।
परम प्रताप पुंज झार ही सों जारे सारे
खल खर वृन्द नाहि येकऊ कहूँ दिखात।
हो तो जो न विस्वनाथ भूप दिगजान दान,
जल को सरित सिंधु वाड़वागि सों सुखात।

जीवें चारों लाल, जौ लों कीरति ईश की।
निरखत चरित रसाल, लहहु सदहिं मुद महिपमनि ॥

नट—(स्ववाद्य टंकार्य्य, देव प्रणाम्य) अरी सुनौ तो दोनों नटी, मोसों नट आयो दिगजान ऐसो भूप पायो, पुत्रोत्साह समयो बनि आयो, कुलि कल कलनि लखायो चाहिए। (आकाशे दृष्ट्वा) अरे नटी, पुरहूत दैत्यन को युद्धधूत होत है; सूत फेंकि तामे चढि रण रंग मढ़ि, आपने देव संग ह्वै, होहूँ जंग करन जात हौ। भो सभासदो सलाम है, सलाम है। मेरी नटी को विलोके रहियो।

सभासद—देखो सूत गहि चढ़िही गयो आकाश कों। आश्चर्य है आश्चर्य है।

नटी—(आकाशे कर्णं दत्वा, विस्मिता) अरे गीरवान गदित वानी सुनि परै है—नट भट जूझ्यो। (अधो विलोक्य) ये दूनों बाहैं गिरीं, पांय गिरे; यह सिर गिरयो, यह घर गिरयो, मेरे पति ही के हैं।

दूसरी नटी—(रोती है)

नटी—अरी रोवै कहा है ? हौ तो वहुत रोज या के संग रही अब सती होउंगी। तोको महाराज पालिबोई करैगे। सभासदो ! सर तैय्यार कराय देउ; हों पति संग जरौं।

सभासद—या तो आछे जरी।

दूसरी नटी—(आकाशे दृष्ट्वा) अच्चारियं, अच्चारियं, अयि पिये ! अक्कागम्यइ।[1]

नट—महाराज सलामत, भो सभासद ! मेरी नटी कहॉ है ?

सभासद—अरे नट ! आपनी दूजी नटी ते पूछि ले तेरे अंग लै जरि गई।

नट—अरी नटी ! तैहूँ मिलि गई, मेरी नटी तो महाराज के भौन में है, हुकुम होइ तो टेरि लेऊं।

सभासद—अरे नट ! या तो बड़ो आश्चर्य कहै है। महाराज को हुकुम है टेरि लै।

नट—ये नटी ! ये नटी ! आवै, आवै।

[नेपथ्य में—"हॉ जी", "हॉ जी", "पहुँची", "पहुँची"।]

नट तथा नटी—महाराज सलामत।

सभासद—आश्चर्य कौतुक कियो।

दूसरी नटी—साहु, साहु, तुम ये अदि अपुव्वं कोदुअं कअं।[2]

---

१. आश्चर्य, आश्चर्य; अरे प्रिय यहाँ आ रहे हैं।

२. साधु : साधु : तुम ने अति अपूर्व कौतुक किया।

विदूषक—अरे नट ! ऐसे मुँह मटकाय नैननि नचाय, भूलनी झमकाय सब के उर आनन्द झरलाय, हों न समझयो तेरी दूजी नटी कौन बोल बोली ?

नट—एक समय मेरी कलनि बखाननि सुनि कानन सहसानन सिर तनक डोलायो, महि विवर बनायो। तेहि मग मैं तहँ जाय कलनि लखाय रिझाय लीन्हों। शेष कह्यो "माँगु, माँगु"। मेरो मन येही तकि राग्यो। येही को माँग्यो। यह धन्या नाम कन्या है, नाग-भापा भनें है।

विदू०—अरे नट ! तै नर; यह नागिनि कैसे संग भयो ?

नट—अरे विदूपक ! तैं नहीं जाने है की नारी गंगा है !

सभासद—(हँसकर) अरे विदूषक तो दौरि; याहि गहि, 'हर गंगा हर गंगा' कहन लग्यो।

नट—अरे अरे या कहा करै है ?

विदू०—अरे बावरे ! हौहूँ अस्नान करोहौ।

नर्तक—(सस्मितं पुष्पांजलिं दत्वा) महाराज यह गत संगीत की है—'गुलाल में मोर मातङ्ग उपटे'—नजर करिये।

(गायति)

नृप दिगजान चार सुत जाये गहगह बजति बधाई। टेक।
जहँ लौं देत भूप धन तहँ लौ मंगन मनहु न जाई॥
याचन चहत इन्द्र ब्रह्मादिहु सकुचन सकत न आई।
बिस्वनाथ यह उत्सव तिहुँपुर रह्यो अनूपम छाई॥

(ताल झपताल)

दिगजानप्रकटितघटितघटनोत्थाटकयशोवितानमनुपमं संछादित त्रिभवनं॥

(ताल-त्रिपुटा)

ति ऐ ऐ या ति ऐ ऐ या तिऐऐ या धधप धधप पगग
रे गगप ध सा रेरे स रेरे स सधध प धध सा।

(ताल रंगजति)

तकथुं थुंनक थुंतकति गदि गदि गदि गथैति गति
गदिक दिग।

सभासद—वाह, वाह, आछो नाच कियो।

दिग्जान—वांछित ते अधिक इनाम इनको देवाय देव। अब मेरी मति सुत निरखन की उत्कंठा करै है।

मंत्री—बहुत भलो।

[निःक्रान्ताः सर्वे]

[सपरिकर देवी प्रवेशः]

कुशला—[सखीं प्रति] आजु महाराज के दर्बार में नर्तकन नृति-प्रकार सुनी है अनूप भयो !

सखी—[विलोक्य, सहर्षम्] महारानी महाराज आये।

[महाराज का प्रवेश]

कुशला—[ससंभ्रमं उत्थाय पूजयति]

दिग्जान—कुशला ! तुम यथार्थ नामा हौ। सौतिन को बुलाय, सत्कार जातें सब सुतन में सम सनेह करै।

कुशला—[सखी मुखमवलोक्यते)

[सखी निःक्रान्ता]

[ससुत सखी सुहिता काश्मीरी प्रवेशः]

कुशला—सखी पूजन की साजु ल्यावै।

दिग्जान—ये लालन पालन हित ब्राह्मण वैष्णव की सेवा करौ जामे सब को कल्याण होय।

कुशला—(शिरसोपदेशं गृहीत्वा) महाराज हमारे सब के यह ललक है कब इनकी वधून कों हम नैननि सों देखिहैं।

दिग्जान—कछू राज काज के हित मंत्री हमै परिखे हैं !

[निःक्रांतः]

कुशला—[परस्परम्]

तबहिं विचारि गोद जब आवैं सुत कौतिक तकि दृगनि अघाही।
अब तो भये किशोर चारिहू सखि हम सब कहँ मुद मिति नांहीं।
खेलन जात शिकार प्रात सब लहहिं यहै सब लोग लोगाई।
विश्वनाथ नृप भाग्य चारि फल लिय हमहूँ सब भाग बँटाई॥

[खण्ड का प्रवेश]

खण्ड—महारानी ! चारिउ कुँवरन को सँवारि भूप बुलायो है।

[कुमारैः सह निःक्रान्तः

देवी—चलो झरोखे लागि सुतन निरखिये।

[निःक्रान्ता

[प्रविशति समात्यो भूपः]

दिग्जान—मंत्री खण्ड को बड़ी बार लगी।

[प्रविश्य कुमाराः]

कुमार—(प्रणाम करते हैं)

दिग्जान—[सुतान् दृष्ट्वा, सोत्साह मंत्रिणं प्रति] पुत्र विवाह योग्य भये।

मंत्री—महाराज हौं अरजई करनहार हुतो।

[द्वारपाल का प्रवेश]

द्वारपाल—महाराज गुरु आवै हैं।

दिग्जान—[संसभ्रमं उत्थाय चलति, मंत्री विलोक्य सहर्षं] अहा भाग्य जिनके गृह ऐसे गुरु आवै है।

शास्त्र औ पुरान लीन्हें केते शिष्य सोहें
साथ तुलसी की माल भाल तिलक सुधारे हैं।
पहिरे कोपीन कर दण्ड औ कमण्डल है,
सीस जटा पीठ चर्म चारु मृगुवारे हैं।
लोयन लखें तें सॉतताई विलोकी जाति,
रूप ही ते जानै परै भूत सुखकारे हैं।
करत प्रणाम पानि पंकज असीस देत,
बोलें प्यारे बोलन पियूप श्रौन ढारे हैं॥

(दंडवत् प्रणम्य, सभां प्रवेश्य, यथोचित पूजनं कृत्वा) सेवक के सदन स्वामी आगमन मंगलमूल है।

[गुरु वामदेव का प्रवेश]

गुरु वामदेव—(जगद्योनिज श्रवणे)—भुवनहित मुनि आवै हैं। अरु येहू काहू काहू के मुख सुन्यो है कि मख रत्तन हेतु नृप कुमारि मॉगिहै। भो भूप ! तुम्हारे पुरखन को यश वखान जहान मे छायो है। तुमहू दान मान में भगवान हीं के सम हो। तऊ गुरु धर्म विचारि हौं यह सीख देत हौं जातें सुयश न मलीन होय सो सावधान करियो।

दिग्जान—मै तो कछु करन लायक नही हौ। प्रभु की कृपा जो मोपें है सोई सब करन को समर्थ है।

[द्वारपाल प्रविश्य]

द्वारपाल—काया विद्युत छटा भासि रसघन जटा घन घटा सी विराजै।
भ्राजै बाहु प्रलंबै अंगुलि कुसन की पै कोपीन छाजै।
पीत यज्ञोपवीत कलित कुस कटी वल्कलं मुंज गाथं।
वक्त्रे तेजस्समूहं विमल तपस को ध्यान में विश्वनाथं॥
ऐसे भुवनहित महामुनि आवै हैं।

दिग्जान—(ससम्भ्रमं) अरे मुनि तो आय गए। अर्घ अर्घ, पाद्य पाद्य। भो मुने ! दंडवत। बड़ो अपराध भयो, आगू ते न लेन पायो। अपराध क्षमा करिये ?

भुवनहित—नृप ! आपने ऐन आवत, कोई आग लेन को कहा परखै है।

दिग्जान—यह सिहासन है।

भुवनहित—अहो जगद्योनिज ! आपइ ह्यां वैठे हैं। अलभ्ये लाभ भये;

बड़े दर्शन भये; नमस्कार, नमस्कार।

गद्योनिज—नमस्कार! आवो मिलि लेऊँ।

ग्जान—आप को आगमन मेरे बड़े सुकृत को फल है। आपके मख थल में भारी भय है अथवा सर्व भूमि दक्षिता जामे ऐसी कौनौ यज्ञ मन मे दै आये, मोंको आपनो किंकर मानि आज्ञा दीजै।

वनहित—आप को प्रताप पुंज पावक मुरारि मानि
तेजि चख पलक लगाय हीं रहत हैं।
पालत पुहुमि पेखि छीर सिंधु सेप सेज
सुचित सुखी ह्वै हरि सोवत महत हैं।
पाय दान भूमि देव देवलोक चाहैं नाहिं
बाहु बल देवनाह नीके निबहत हैं।
विश्वनाथ आपके प्रजानि पुन्य लोकन को
रचत विरंच रंच कल ना लहत है॥

ग्जान—(लज्जा सहित) आप तो नवीन जगत ही रचन लागे है जो कंकरी हूँ को सुमेर कहन लगे तो कहा आश्चर्य है। अब जा हेत आप आये सो सुनिवे की लालसा मे वार्ता विक्षेप करै है।

वनहित—जाके वशिष्ठ ऐसो गुरु है सो ब्राह्मणन की वांछा पुरवै तो कहा आश्चर्य है? घातिका नामा राक्षसी ससुत वाधा करै है। सो यज्ञ रक्षन के हेत हितकारी, डीलधराधर दोऊ कुमार दीजै।

ग्जान—(श्रुत्वा वैवर्ण्यं नाटयति)

गद्योनिज—(भूपं विलोक्य) ये ज्ञानवान तेज निधान सर्व अस्त्र शस्त्र नाथ मुनिन मे प्रधान हैं। आपने प्रभाव तें सर्वकाज करिवे को समबेयी हैं। तुम्हारे पुत्रन को कोई बड़ो भाग्य उदय भई जातें मांगिन को आये हैं। तुम ऐसो दाता, इन ऐसे पात्र को संयोग्य दुर्लभ है।

ग्जान—वत्स हितकारी, डीलधराधर आवो, हृदय लगाय लेऊँ। (शिरस्याघ्राय, सगद्गदं) मुनि! ये कुमार, आपने प्राणाधार आपको सौपों हों।

वनहित—नृप! अभिष्टसिद्धिरस्तु!

[सकुमारो निःक्रान्तः

[नेपथ्ये रोदन, कोलाहल]

योगी लिए जात मेरे बारे।
कैसे भूपति दिये पानि गहि जे प्रानहुँते पियारे।
खमल गिलिम चलत त्रसियतु ते पद बन पुहुम किमि कर धरिहैं।
प विसुनाथ दुलारे दोऊ किमि कोही मुनि सेवा करिहैं॥

जगद्योनिज—तुम्हारे पुत्र मुनि ते रक्षित सुखपूर्वक जात पंथ निवासिन के नैन सफल करिहैं। अंतःपुर में रोदन सोर होय है। हमहूँ तुमहूँ चलि तिन की मातन कों समझाइये !

[निःक्रान्ताः सर्वे

[नेपथ्ये कोलाहल]

(पथिक प्रवेशः)

पथिक—अइ सहि ! अइ भइणि ! अइं माए ! एक्को पहिओ समाअदो तम्मुहादो सुणिअं जारिसा बम्हंड भंडोअरे ण सुणिदा, तारिसा जउल कुमारा आगम्मंति ।[1]

[कुमार दर्शनार्थियों का प्रवेश]

दर्शनार्थी—अइ सहि जुउल कुमारा कियंत दूरम्मिहुवंति। अरे दिट्ठा दिट्ठा।

[सकुमार मुनि प्रवेश]

कस्स दोणि पुता वंचिऊण मुणिणाणिदा। पद सो अमल्ल लोहित तणं ण जासपाइ घरे कंटअंकअं पदेहि ते चलाविदा। धिओ धणुव्वाणदोणि भाअरासमाण व आसु छइ अमान साम गोर अण सोहिदा। रूवं चिअये फवि ऊण पच्च अंकुदकोइ मणेइ विणासई इमे विस्सणाहराइणोपि आसुदा।[2]

[निःक्रान्तः]

हितकारी—(इतस्ततः परिक्रम्य) गुरू केतो आये ?

सुवनहित—वत्स पट् कोस आये। मोंकों बड़ो अफसोस तुम खेद पाये होउगे। अति श्रमित अंग गरम उमंग पतंग तुरंग तरंगिनी पति तरंग अव स्नान करन चहत हैं। यहि वट तर वास वरतर है।

हितकारी—यह जल भल है, संध्या करिये।

सुवनहित—भली कही।

डीलधराधर—शय्या तय्यार है।

---

१. अय सखि, अय भगिनि ! अय माता ! एक पथिक आया है उसके मुख से सुना है दो कुमार, जिन सा ब्रह्माण्ड भाण्डोदर में नहीं सुना, आवैं हैं।

१. अइ सखि ! दोनो कुमार कितनी दूर हैं ? अरे, देखो। किसको दोनो से वंचित कर मुनि इन्हें लाए हैं? जिनके पद की कोमलता और लालिमा कमल नहीं पाता उन्हे कंटकों पर पैदल ही चलाया है। श्याम और गौरवर्ण दोनो भाई समान वय तथा वरण और धनुष से सुशोभित हैं। रूप ही को देख कर मन प्रतीत करै हैं ये कोई विश्व को नाथ जो राजा है उनके प्रिय पुत्र हैं।

भुवनहित—ये हितकारी, ये तो परन शैय्या भली बनावै हैं।
हितकारी—ये डील धराधर मुनि मुख सुनत सुधा सी कथा श्रवण संतोषित नहीं होय।
भुवनहित—अर्ध रैनि गई, सोवो।
कुमारौ—दंड प्रणाम।
भुवनहित—(उत्थाय, प्रातस्मरणं कृत्वा)

उठो कुँवर दोउ प्राण पियारे।
हिम ऋतु प्रात पाय सब मिटिगे नभ-सर पसरे पुहकर तारे॥
जग वन महँ निकस्यो हरषित हिय विचरन हेत दिवस मसनियारे।
विस्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहु दिसिनि उँजियारे॥

कुमारौ—(ससंभ्रमं उत्थाय) भो गुरो दंड प्रणाम, दंड प्रणाम। बड़ो आलस्य भयो, भोर न जागे।
भुवनहित—चलौ ; अस्नान करौ। द्वै मंत्र देऊँ जाते शोक, मोह, भूख, पिआस, श्रम, आलस्य न होइ।
कुमारौ—(अस्नात्वा, सहर्षं) महाराज मंत्र दीजे।
भुवनहित—बला अति बला ये दोऊ विद्या लेउ।
कुमारौ—ये मंत्र पाय हमकै बड़ो आनन्द भयो।
भुवनहित—पंथ चलन कौ बेर होइ है, चलो।

[ततः इतस्ततः संचरन्ति]

हितकारी—गुरो, विसाल ताल तमाल, साल प्रियाल हिताल आल जाल कलित कराल, जहल पहल व्याल बेताल कुल चहल पहल कोलाहल तिन ख्यालनं हहल हहल हालत लतान वितानन यह कानन अति भयावन है।
भुवनहित—धर्म निदरनि, अधर्म विस्तरनि, रुधिर मांस उदर भरनि अति क्रूर आँखवाली मुनिगण भक्षनी घातिनी, नाम यक्षनी ह्याँई रहै है।
डीलधराधर—भो भाई! चाप चढ़ावो।
हितकारी—अबला बध विधि वेद में नाहीं लिखी। यह हमारे कुलका नयो कलंक होयगो।
भुवनहित—वत्स हितकारी ऐसिही पापकारिनी प्रचला अबला भृगु स्त्री को मुरारि अरु मंथरा के नगारिहू मारि यश लियो हैं पुनि मम शासन किये तुमको कौन अघ हैं? कारमुक टंकोर करो। शोर सुनि सो धाय आवैगी।

[नेपथ्ये कल कल ः] "भागो, भागो, भागो ; आई, आई आई।

भुवनहित—अरे यह तो आ ही गई।

छूटी केश लटानि मेघ घट नै लीलै समुद्र घाटती।
छोटे नैन अँगार ज्वाल लतिका दिग्गै दसो पाटती।
केते मानुप दंत अंतर गड़े बोढै लोहू चाटती।
धोती वारन खाल माल बोझरी जो हैं मनों डाँटती॥
वत्स, वत्स सजुग होउ, सजुग होउ।

घातिनी—अरे णिव्बुधे मुणे इमे जुउल कुमारा अम्हाणं पहे अं अप्पाणस्सहा अत्थमारगिदा। (साट्टहासं) अहो मुणिदं, मुणिदं तुज्झ चातुलिअं जस्से तुम ए सव्वेणि मंतिदा अम्ह सक्कारत्थमिमें।[1]

[इति धावति]

डीलधराधर—अहो गुरो! हौं न समुझ्यो आप के हुंकार तें गिरी या अग्रज के बाण तें।

भुवनहित—(प्रहस्य) वत्स हितकारी! यह बानी दिगजान ते सीख्यो या जगद्योनिज तें?

हितकारी—वह राक्षसी आप ही के प्रताप तें जरि रही हुतो। हौं तो निमित्त मात्र ही हौं।

भुवनहित—अस्नान करि आवौ, अब अस्त्र सब सिखाऊँ।

कुमारौ—(स्नात्वा) हे गुरो! अस्त्र ससंहार पावैं।

भुवनहित—लेव।

हितकार—गुरो बड़ा आश्चर्य है सकल अस्त्र शरीर धारी देखे परे है।

भुवनहित—इन सो कहो हमारे मन में बसो। चलौ हमारो आश्रम नियरे ही है।

(इतस्ततः संचरन्ति)

[नेपथ्य में कोलाहल—"सहाय माँगन हेतु मुनि को अपराजि गवन सुनि घातिनेय काबुल सों चारुभुज को सहाय लै आयौ। मुनि आश्रम न पहुँचे। हाय हाय अब कहा होयगो?"

आकाशे कोलाहल—"बराये रफ़्तने जन्नत चराहस्तीं हमा मेहनत ज़े राहे तेग़ मन ईनक रसानम् बे. दिरंगी हा। विगुफ़्ततर्ती नावे अरबवाना बिजद नारा कि ऐ यारों! वजूदी रा कि बशिकस्ता नमूँदा सख़्त चंगी हा। कुमेद अज़्ज़ा मुमाने बद जे तेग़े

---

[1] अरे निर्बुद्धे मुने! ये युगल कुमार हमारे कलेवा अपने सहाय के अर्थ लै लै आए हैं। अहो! जानी, जानी तुम्हारी चतुराई; यज्ञ में तुमने सब को नेवतो हमारे सत्कार के अर्थ ये हैं।

भुवनहित—(सहर्ष) शीघ्र ही कुँवर कों छाँई ल्यावो। हाँ तो राक्षसन के रुधिर तें मही मलीन ही ह्वै रही होइगी।

[शिष्यो निःक्रान्तः]

(सबन्धु हितकारी का प्रवेश)

भुवनहित—वत्स बड़ो काम कियो। आवो सिर सूँघौं। मख सिद्धि ह्वै है। सिद्धाश्रम अब यथार्थ नाम भयो। चलो आश्रम कों।

[इति निःक्रान्ता]

(प्रविशति सपरिकरो दिगजानः)

दिगजान—मंत्री! कुमारन को गये बहुत रोज भये, सुधि न पाई।

(शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—(आशिषं दत्वा) महाराज! मुनि कही है की आपकी कृपा तें हितकारी सब राक्षसन को संघार कियो। हम निर्विघ्न यज्ञ करे हैं।

दिगजान—(समहामोद) मंत्री! तुम इनको लै गुरु पे सुधि जनावो। हौं अंतःपुर जात हौं। [निःक्रान्ता]

(प्रविशति सकुमारो मुनिः)

हितकारी—भो! गुरो! अब मख में बाधा नहीं है; जो हमको सेवकाई सौंपिए सो करैं।

भुवनहित—महि जोतत एक सुता शीलकेतु पाई है, ताके स्वयंवर हित धनुष-मख करे हैं। धनु काहू नृप को उठायो नहीं उठ्यो। अब फेरि स्वयंवर रचि हमहूँ को नेवत पठायो है। हमारे संग तुमहूँ चलो।

डीलधराधर—गुरो! कन्या पाषान की है की दारु की है, की प्राचीन धातु की है?

भुवनहित—(विहँसि) हे वत्स : जैसी सिंधु-सुता तैसी कन्या है। चलो।

[निःक्रान्ताः

(सर्वे समागत्य शीलकेतु प्रवेशः)

शीलकेतु—मंत्री! ऐसी ततबीर करो जो या यज्ञ में आवैं अरु जो लौं रहैं तौं लौं अनुदिन छन छन अपूर्व अनूपई सुखन को अनुभव करैं।

(चार प्रवेशः)

चार—(दृष्ट्वा, स्वगत)

द्वादश तिलक दीन्हैं, तुलसी की माल लीन्हें
धारे हैं किरीट जामें मारतंड वार जात।
चौंर चलै दूनौं वोर छत्र को अजोर जोहि
भोर कैसो भयो शीत भानु अतिहीं लजात।

ज्ञान तो अमान जांकी परशंसा करैं,
कौन दान सनमान एक रसना कहो न जात ।
भूपनाथ विश्वनाथ राजै आजु मेरो नाथ
लोक दस चारि मध्य जाको शत्रु है अजात ।।

मंत्री—अरे आश्चर्यित ऐसो कहा है ?

चार—महाराज सलामत, महाराज सलामत ।
मुनि के संग दुइ नैना ऐलिछि ।
सुंदर रूप जादूगर छथि से पथरा की पुतरीक माउँगि बनौलिछि ।
हों पड़ाय कहुँ एतै ऐलहुँ से विरतांत अहॉं के सुन बलिछि ।
अव भूपति विशुनाथ होइ जै जै कछु करैक करु मन भवालिछि ।[1]

सतमोद—(श्रुत्वा, नृपाश्रवणो सामोद) मम पितु श्राप दै मम मातु को पत्थर की करी, यह शापोद्धार बतायो हुतो, की परम पुरुषावतार पाय परसि, फेरि नारी होयगी । हौं अनुमान करत हौ भू सुवनहित मुनि साथ तेई आये ।

शीलकेतु—(सहर्ष) मुने ! अवश्य जोहन योग हैं । चलिए, भुवनहित को आगु तें लै आवैं ।

[निःक्रान्तौ

[नेपथ्ये कोलाहल—'अच्चरियं, अच्चरियं
लै अगुवान पुरोपति आवत ।
मुनि के संग कुँवर लघु अनुपम अपनी सुछवि छटनि छित छावत ।
अस नहिं दीख सुन्यो नहि कतहूँ कहत न बनत मनहि जस भावत ।
विश्वनाथ तन पनस बनावत नैननि चैन नीर बरसावत ।।

मंत्री—(आकर्ण्य) कहा भूप मुनि कों लेवाइ निकट आये ?

(सुकुमार भुवनहित, मुनि सहित भूप प्रवेशः)

शीलकेतु—(सविधि पूजयित्वा) प्रभु को आगमन भूरि भाग्य को फल है । आपके संग जे कुमार हैं तिन कों निरखत नैन नहीं अघाय हैं । ये कौन के हैं ?

भुवनहित—ये दिग्जान भूप के कुमार हैं । पुरारि प्रसाद पायो जो तुम्हारो

---

१ मुनि के संग दोइ लरिका आए हैं । तिन कर सुन्दर रूप है, जादूगर है । पथरा की पुतरी का स्त्री बनाइनि है । मैं पराइ कै इहॉं आयेऊँ । सो विरतांत अपना का सुनायउँ है । विश्वनाथ भूप तुम्हार जय होय । जो कछु करैं का होय सो मन भावा करो ।

मैथिली भाषा है ।

पिनाक है, ताकौ तौलौ चहत है।

[नेपथ्ये—

महिजा हितकारी को जोरी।

विरचो विधि रतिमार विपुल रचि सोचि सोचि कै कल्प करोरी॥

हर गिरिजा पद प्रणावै हम सब सकल सुकृत कर फल यह चाहैं।

नृप पति फिरिहिकि विश्वनाथ धनु मृदुल होइ सेइ तोरि विवाहैं॥

(प्रविश्य चारः)

चार—(सभयं) महाराज सुरासुर दिगसिर दोऊ आवे है।

शीलकेतु—(सविस्मयं आत्मगतं) अहो ईश अवधौ कहा होय ?

(सुरासुर दिगशिरसः प्रवेशः)

वंदी—(स्वगतं)

याके दस सीस बीस बाहु डोल शैल मानो
याके एक सीस बाहु दीरघ हजार हैं।
दूनौ लाल चन्दन के दीन्है हैं त्रिपुण्ड भाल
पहिरे रुद्राक्ष पाल छाये तन छार हैं।
दूनौ अति बली भाये दूनौ जग जीति पाये
दूनौ भय देत देखे तन बिकरार है।
दूनौ धनु तोरै ताकी कौन है उपाय हाय
सोक तें उधार को अधार करतार हैं॥

सब—(शंकित होकर) हाय ! हाय अब कहा होन चहत है ?

डीलधराधर—गुरो ! या कौन कौतुक है ?

भुवनहित—वत्स ! या कौतुक नहीं है। यह सहस्र भुजवारो दैत्य है, या बीस भुजवारो राक्षस है।

हितकारी—गुरो ! इनके रूप देख सकल सभा अद्भुत, भयानक रस-सागर में डूबी देखि परै है।

दिगशिर—बताय देहु वेगहि सुता अनूप है जहीं
लै जाहुँ मै असीस कै पिनाक टूक बीस कै।

सुरासुर—गुरु को धनं है न विचारत हौ दसं गालनि गालनि मारत हौ।
न सुनौ तुम वैननि मोर कहे गुनिये मन हो गुरु सर्व गहे॥

दिकशिरा—(तिर्यगवलोक्य)

मेरे भुज दंडन तें देखि खण्ड खण्ड दंड
भाजि ब्रह्माण्ड ही तें काल कीन्हों गौन है।
परम प्रचण्ड नव खण्ड में अखण्ड फैलो
पेखि के प्रताप मारतंड डोले मौन है।

देत देत दंड धननाथौ भये हंडदीन
सुनत कोदण्ड चण्ड इन्द्र मानो ज्यौ न है।
बाहु कंडु छत्र दंड सो सुमेर तोलों जाय
खीन मुण्डमाली को कोदण्ड गर्व कौन है॥

सुरासुर—अरे! आश्चर्य है, आश्चर्य है।

जोई भगवान वरदान दाता तीनौ लोक
तीन पाय पृथ्वी लेन वेष वड़ लीनो है।
आयो तात पास चीन्हो तापैं न निरास कीन्हों
दीन्हों दान लीन्हो ऊनो मानि रोस भीनो है।
भाख्यौ पितु लीजै मोहि दानी दान द्रव्य तुल्य
होही पनि दोई पालरेकै तौलि दीनो है।
पर्व सर्वरीश जातें खर्व जस सर्व भाखै
रे रे तेरो ऐसो गर्व होंहू नाहिं कीनो है॥

दिक्शिर—येक ही सीस कै कौन धरो सिगरो जग यौ सरसौ सम सो है।
तौने की शेष को वेस शरीर में सूक्ष्म कीन्हे अभूषन जो है।
सो शिव वास किये जेहि शैल सो कौल भयो कर ये कहि को है।
हौ नहि गर्व करौ करे कौन प्रशंसत जाहि हरो रहतो है॥

सुरासुर—(सक्रोध)

पीन पिनाक पुरारि को यों विरच्यो विधि लेकर वज्र को सार है।
याकी न जानत तै गुरुता नहि सीख गनै गुन्यौ पूरौ गँवार है।
आपनो गर्व गँवावन को धनु तोरन को सठ कीन्हे विचार है।
जो वढ़ि कै वल तैं वल कै अवलोकत है सो तो नाकु को बार है॥

दिक्शिर—(सक्रोध)

बकन होहि तो बकहि आन।

सुरासुर— मुख नाहि हमारे वे प्रमाण।

दिक्शिर— भुज भारन ढोये हौ भुलान।

सुरासुर— दस शत भुज बल तौं तुही जान॥

दिक्शिर—तौलि लखाउ तुला धन में बल तोरिहौ हौही जबै फिरिहै।

सुरासुर—लायक बंदन या धनु है तेहि कैसे कुदीठित ह्वै हेरि है।
काहे दुखावत है वदनै बकि ऐसें करैगे कहा करि है।
मै गुरु-भक्तन हौं तोहि सों करिहौं करिबे जोइ जो तोरि है॥

दिक्शिर—(सक्रोध)

तुव गर्व ही के साथ तोरों धनुष धरि हाथ।

सुरासुर—दो प्रथम वरन विहाय जो कहहि झूँठ न आय।

दिकशिर—धनुप तोरि तेरौहि मद तोरिहौं ।

[परिकरं बध्वा धावति

सुबुद्धिबंदी—(आत्मगतं)

करि जो कर में कैलास लियो कसके अब नाक सिकोरत है ।
दई तालन बीस भुजा झहराय झुके धनु को झकझोरत है ।
तिल एक हलै न हलै पुहुमी रिसि पीस के दाँतन तोरत है ।
मन में यह ठीक भयो हमरे मद काको महेश न मोरत है ॥

सुरासुर—(सहस्र करैः तालिका दत्वा प्रहस्य) पिनाक ! तुमको नमस्कार है ।

[निःक्रान्तः]

दिकशिर—(श्रमित उच्छ्वस्य) अरे ! यामें महा जादू ऐसो जानो जाय है । वैसही कन्या को लै जाऊँगो ?

(आकाश में ध्वनि)

"स्वामी ! स्वामी !! तुम्हारी कुंभीनसी कन्या को मधुनामा दैत्य हरे लाये जाय है । घनधुनि मख में है, आप को भाई भयानक जप करने गयो है, घटकर्ण सोवै है ।"

दिकशिर—(विस्मितः सक्रोधं) अरे ! दैत्यन की हियौ की आँखैं फूट गईं ।

आजु सरासुर को सरसो विन वाहुन सीस धरा में सोवैहौं ।
वाहुन के वल सों वलि बाँधि कै वंदि मैं वासव सों तकवैहौं ।
वाजिन सुंभ में शुंभ निशुंभ को खूब खुँदाइ सिवा को रिझैहौं ।
पूरि पतालहि श्रोनितसों मधु सोम धुगारि कै पान कै जैहौं ॥

[सत्वरं निःक्रान्तः]

(नेपथ्य मे जय जय का कोलाहल)

सुबुद्धि—यह वड़ो विघ्न विधाता ने नेवारि दियौ । धनुष भी गरुवाई दिगशिर के उठावत में सब ही लखि लीनी । अब जाके उर उत्साह होवै सो उठावै ।

मंत्री—ये तो सुनि सव शिर लटकाय लिए । अब कहा होयगो ?

भुवनहित—वत्स हितकारी धनुष संग सवन की शंका भंजौ ।

हितकारी—गुरु आपकी कृपा कटाक्ष कार्यकारी है ।

[परिकरं बध्वा संचरन्ति]

सुबुद्धि—आश्चर्य है, आश्चर्य है । गहत उठावत तो देख्यौ नहीं, धनु भंग ही को घोर सोर छाई रह्यौ ।

सोर उद्धत महि खूब लटपटत,
सब सिंधु संघटत, जल वेल थल छूटिगो ।

शेष फन फटत तलवा सहा रटत,
वाराहें बल घटत जुग डाढ़ सो टूटिगो।
दंत चटचटत महि शैल युत छटत,
दिगदंत गन हटत भल कुंभ थल कूटिगो।
दैत्य लटि लुटत अभिमान ते छुटत,
कोदंड के टुटत ब्रह्माण्ड सो फूटिगो॥

नृप—भो गुरो! यह काज भुवनहित मुनि के प्रभाव तें भयो। जो कछु उचित होइ सो करिये।

सतमोद—आतुरी करो; कन्या को लै आवो जयमाल पहिराय देइ।

(सखियो सहित महिजा का प्रवेश)

डीलधराधर—गुरो! यह कन्या जो अग्रज को माल पहिरावे है कहा महिजा ये ही है?

भुवनहित—ऐस ही है।

डीलधराधर—याहि देखि या शंका मेरे मन मे आवै है हरि सागर मथि श्री निकारी मेदनी काहे नहीं मथी?

सखियाँ—पहिरायहु जयमाल न पानि सॅकेलति है।
रही टकटकी लाय पलक नहि मेलति है।
हाय कहा यहि भयो रही है मनहुँ ठगी।
विश्वनाथ यहि कुँवरि कुँवर की डीठि लगी॥

सतमोद—कुँवरि को अब अंतहपुर को लै जाउ।

[कन्या के साथ सखियो का प्रस्थान

भुवनहित—भूप तुम्हरी जय होइ।

[सकुमारो निःक्रान्ताः

नृप—गुरो! आप आसु पत्रिका लिखि अपराजितपति पै पठाइये। मै मनि-मंडप की तयारी करावन जात हौं।

[निःक्रान्ताः

(सपरिवार दिगजान भूप प्रवेशः)

दिगजान—(मंत्री से)
जब तें कहि सुधि शिष्य सिधारे।
तब ते खबरि सुनी नहिं श्रवणन तलफत प्राण हमारे॥
विकलाई तिन की जननिन की कैसें करि कहिं जाई।
विश्वनाथ छन जात कल्प सम दृग जल सरि सरसाई॥

मंत्री—महाराज! हौं जाइ गुरु सों प्रश्न करो हुतो। तिन ध्यान धरि कह्यौं दोऊ कुमार खुसी सों हैं अरु हितकारी को कछु परम हित भयो है॥

(चर का प्रवेश)

चर—महाराज! सलामत। भूपशीलकेतो पत्रिकेयम्।

दिगजान—(गृहीत्वा आत्मगतं वाचयति)

सभासद—बाँचत कहा नृपति सुख छायो।

रोमावलो भली उठि राजति वपुष पनस फल पट तर पायो।
मुख निदरत अंभोज प्रात को अंवक अंव कदम्ब वहायो।
विश्वनाथ जनु अनंद हिये को उमड़ि नैन मग वाहेर आयो॥

दिगजान—(सब के सामने पढ़ते हैं)

अनंत श्री महाराज अपराजिताधिराज सकल महाराजानि सिरताज, जग लाज को जहाज, गरीब नेवाज, महि-मंडल महेंद्र, सुरेन्द्र के उपेंद्र सम करन काज, यश जागत जहान, केते भान समान, प्रतापवान, दानमान, सन्मान सुजान, ज्ञान प्रेमनिधान, दिगजान भूपजूयेते शीलकेतु भूप की जोहार। आप अनूप कुशल स्वरूप हैं। इत आपकी कृपा हों कुशल है। भुवनहित मुनि संग अंग अंग आभा उमंग, अनंग आभा भंग करन हार आपके युगुल कुमार आये, हम लोग लोचन लाहु पाये। हितकारी महीपनि मद मोरि महेश-धनु तोरि मही कीर्ति छाई, महिजा पाई। सजि वरात आइये, व्याहि लै जाइये।

डहडह जगकारी—(श्रुत्वा, सोत्साहं) तात! पत्रिका मों कों दीजे मातन को सुनाऊँ।

[पत्रिकाम् गृहीत्वा निःक्रान्तः

(नेपथ्य में मंगलगान)

ललकत रही कुँवर लखिवे कों सुन्यो होत वर व्याह हो।
अव न अमात अनन्द उर काहू मुनि पर भाव अथाह हो।
नृप दिगजान वीज सुख तरु को बोयो सुकृत सु हाथ हो।
सोई यहि अवसर महँ अद्भुत फलो चहत विश्वनाथ हो॥

दिगजान—(मंत्री से) अब गुरु गृह चलो चाहिये?

(जगद्योनिज प्रवेशः)

दिगजान—(सुवविधि पूजयित्वा) हौ तो आपही के पास जात हुतौ। आप वीच ही मिले वड़ो भाग्य।

जगद्योनिज—हौं सुन्यो हितकारी डीलधराधर की खवरि आई है। यातें आतुर चलो आयो हौं।

दिगजान—(सब वृत्तान्त कहते हैं)

जगद्योनिज—आप से पुन्यवान पुरखन के सकल काज आकसमाद ही

होय हैं।

दिग०—अब बरात चलिबे की सुघरी बताइये ?

जग०—अबही आछी है।

दिग०—(मंत्री की ओर देखते हैं)

मंत्री—(अंजली बाँधकर) महाराज आप तो मही-महेन्द्र हैं। सब तरह की तैयारी ही बनी है।

जग०—(गुरु से) आपकी कृपाते यह सब काज भयो। अब बरात लै चलिये।

[निःक्रान्ताः सर्वे

(सपरिकर शीलकेतु भूय प्रवेशः)

मंत्री—(अंजलि बध्वा) महाराज अब तो बरात आगमन मात्र ही बाकी है।

(चर का प्रवेश)

चर—(अंजलि बध्वा) महाराज सलामत। दिगजान भूप सुत दर्शन लालसा अति आतुर आये। हौं तों ज्यों त्यों करि योजनन मात्र बरात तें आगे आयो अपराजिताधिराजपत्रिकेयम्।

शीलकेतु—(सानन्द गृहीत्वा)

अनेक श्री सकल महिमंडल मंडनानंद चंद, अनन्त चण्ड मार्तण्ड सम प्रतापवन्त उद्दण्ड दोर्दण्ड, कोदण्ड प्रचण्ड वान नवखण्ड वैरिव्रखण्ड बाहुदण्ड खण्ड करन, खण्डन पाखण्ड विज्ञान कृपानवान, जाहिर जहान, विक्रम महान, जंग जयमान, श्रुतिसेतु, कीर्ति केतु, शीलनिकेतु, शीलकेतु भूपजूयेते दिगजान भूप की जोहार। आप पत्रिका आई, इतहूँ कुशल बनाई; सुघरी आजहुँ पाई, हरषि बरात चलाई।

(कर्णन्दत्वा, ससंभ्रमं मंत्रिणम् प्रति) महाराज निपट निकट आए। निशानन के नाद सुनै परे हैं, चलो चलो आगे तें लीजिए।

[निष्क्रान्तः सर्वे

(सखियो सहित देवी का प्रवेश)

नेपथ्यते—"धावो, धावो, ल्यावो, ल्यावो, हाथी-हाथी, घोड़े-घोड़े रथ-रथ"

देवी—(आकर्ण्य चकित) अली! अट्टालिका चढ़ि देखु तो कहा होत है ?

सखी—(दृष्ट्वा) जिन अंग अंग आभा उमंग, रंगरंग तुरंग एकसंग गमनत, धुनि धारे, मतवारे कारे शैल सम भारे सँवारे दँतारे कतारेंन को गैल गैल ऐल फैल, घहरि घहरि चलत, बहल सहल सहल ना

चलत, नर पहल पहल चहल पहल सब शहर टहल, खैर भैर है। यातें बरात की अवाई आतुर जानी जाय है।

देवी—अरी! हौहू कौतुक निरखन कों आऊँ हौं।

अन्य सखियाँ—हे देवी! दूनो महाराज को संगम देखि आगे तें सतमोद मुनि द्वार-चार ततवीर कों द्वार पर आये हैं।

देवी—ह्याँही लेवाय ल्यावो।

(प्रविशति सतमोदः)

देवी—(पृच्छथित्वा) कैसी बरात है? कैसे नृप हैं? कैसे मिलन भयो?

सतमोद—विविधि बरन बैरख ध्वज पताक निशान, कुसमित कानन महान निसान आदि बाजन प्रधान, जागरादि गान, कोकिलादि खग कूजनि, अमान परसत, पटसुवास जलकन युत मृदु सिधुर निश्वास आठौ दिसनि औ अकास त्रैविधि बतास को विलास करत, सुखमा प्रकाश युत, अतिही हुलास ऐसी बसन्त ऋतु बरात जोहत उर सुख न समात अरु इत जात अगवान बरात का अद्भुत संगम भयो।

शोभा सींव जगतपति दोऊ मिलन काहि पटतरिये।
उनकी पटता वै हैं उनको पटतर उन्हें विचरिये।
हितकारी औ डीलधराधर सभ अँग सुठि सुकुमारे।
विश्वनाथ नृप संग और हैं सुन्दर युगल कुमारे॥

(द्वारपालिका प्रविशति)

द्वारपालिका—महाराज दिगजान तो सूधे भुवनहित ही के निवेस चले गये अरु भुवन मिलन लखि तिन को अद्भुत सनेह प्रशंसत महाराज द्वार पर आइ मोसों कह्यौ कि गुरु को जनावो अबहीं कुमारन ले इत आवै हैं।

सतमोद—हौ ततवीर को जाऊँ हौं।

देवी—हौहूँ झरोखन तें लखि नैन सफल करन अट्टालिका को जाउँ हौ।

[निष्क्रान्ताः

[सकुमार दिगजान शीलकेतु प्रवेश]

शीलकेतु—हे महाराज आपनो शाखोच्चार करिये।

दिगजान—हमारे गुरु करैहैं।

शीलकेतु—(सस्मित) जाको वंश शुद्ध होय है सो कहा आपने मुख कहत लज्जित होय है।

जगद्योनिज—महाराजन के पुरोहितई वंशोच्चार करैहैं।

[शाखोचार करोति; श्रुत्वा शीलकेतुरपि

गुरु—शीलकेतु वंश कहाई, डीलधराधर के अर्थ आपनी कन्या देउ।

भुवनहित—इन तो वंश कहाई, कन्या पाई। यह काज सब मेरो कीन्ही है। दर्पकेतु की दूनौ कन्या डहडहजगकारी, डिभींदर के अर्थ देउ।

शीलकेतु—हमारो बड़ो भागि है जो मॉगिकै संबंध करायो। हितकारी तो भुजबल कन्या पाई है।

सतमोद—आप जनवास को जाइये, सकल चार करिये। हमहूँ हॉ के चार करै हैं।

[निष्क्रान्ता

(मंत्री प्रवेश)

मंत्री—(द्वारपालं प्रति) महाराज सो जाहिर करो मोहि कछु अर्ज करनो है।

[द्वारपालो निःक्रान्तः

शीलकेतु—आजु तुम शंकित ऐसे कहा हौ?

मंत्री—(भूपकर्णे) या विवाह ऐसो भयो जाकी सुर, नर, मुनि सब प्रशंसा करै है, औ सब बात सुधरि गई। अब स्नेह वश भूप को इतना न रखिये; वेगिही विदा करिये बहुत रोज आयहूँ भये।

शीलकेतु—(शंकित होकर सोचता है इसका क्या कारण है)

मंत्री—हौ मंगनन मुख खबरि पाई है हरधनु भंग धुनि सुनि रैणुकिय आश्रम तें गवन करनहार है। जौ लौ आवैं तौ लौ अपराजिता नाह अपने नगर को पहुँचि जाय तो भली बात है। औ मोको बुलाय दिगजानहू भूप या फरमायो है हितकारी, डील धराधर की माता निरखन को बहुत उत्कंठित है वेगिहीं विदा कराय देउ।

शीलकेतु—बहुत भली, चलो विदा करैं।

[सब का प्रस्थान]

[अपराजितेश का सपरिकर प्रवेश; इधर उधर घूमना]

दिगजान—गुरो! शीलकेतु सॉचे शीलकेतु हैं जिनके दान, सनमान, सुभाय हम को तो भूल नहीं कहा करै, जिनसो छन भरे की भेंट भई हैं तिन को जनम भरि न विसरि है।

जगद्योनिज—सत्य है शीलकेतु नृप याही भॉति के हैं।

(वंगदेशीय छात्र का शकित स्वर सहित प्रवेश)

छात्र—अमी गौतमेर शिष्य; अमाके गुरु तगादा पठैयेसन। सुने धनुष भांगा अतिरागित रैणुकेय आस्तेछेन येखन। यदपि तुम्हार पुत्र हैंये मन भय किछु होवै न तुमाकै। विश्वनाथ नृप खबरि

जनायाङ्गेन करिवेन तजवीज ताके ।[1]

[प्रस्थान

मंत्री—(शंकित शीलकेतु ओर अंगुलि निर्देश कर) महाराज देखिये, देखिये महा उपद्रव पेखो परै है ।

धरातें उठावत अपार धूरि धुंधकार
अंधकार किये धारा धरनि धवाय कै ।
तोरत तरुन लै झकोरत ते शाख वृन्द
पूरि इन्द्र लोकहूँ को पत्रन उड़ाय कै ।
अमित ससानि ही सों बधिर करत कान
खेर सेस हर कीन्हें छप्पर ढहायकै ।
कासिवी कंपावत सों क्रुद्ध रटहावत सो
हाय ऐसो पौन कैसो करिहै धौं आय कै ।

शील—गुरो, गुरो या कहा महा उपद्रव होय है ?

जगद्योनिज—असगुनी वहुत पेखे परैं हैं; पै मृग दाहिने ओर चले आवै हैं यातें परिणाम भलोई होयगो ।

[रेणुकेय का प्रवेश]

मंत्री—(अतिशंकित) जैसे सिंह के ससेट लघु मृगन यूथ ससेटि जाय, ऐसी सिगरी सेन पेखो परै है ।

विलोकि तेज यो प्रचण्ड मारतण्ड चंद भे ।
वरै न वेदि वन्हि वायु वारि वेग वंद भे ।
सुरेश लोक छत्रि-वृन्द वंश ते निरास भे ।
मही महेन्द्र रुद्र से मुनिंद्र ते सत्रास भे ।
दिय त्रिपुण्ड भाल में जरा सुशीस में छजे ।
कुठार कंध द्वै तुनीर द्वै कोदण्डऊ सजे ।
समुंज-मेखला मृगा को चर्म धारनै किये ।
लसै विशाल नैन लाल जाहिरै रसे हिये ॥

अलंकार रुद्राक्ष के हार कीन्हें । करै दाहिने दंड औ वान लीन्हे ।
हृदय में महा अस्त्र के घाय राजे । मिलै सांत रौद्रउ इन्हे माह भ्राजैं ॥

जो गौतम शिष्य कहि गयो ताते रेणुकेय निश्चय ते येई जाने जाइ हैं ।

---

१. मैं गौतम का शिष्य हूँ । मुझे गुरु ने शीघ्र ही भेजा है । सुना है धनुष-भंग के कारण क्रोधित रैणुकेय (परशुराम) यहाँ शीघ्र ही आरहे हैं । यद्यपि तुम्हारे पुत्र ऐसे हैं कि उनके लिए कुछ भय नहीं है । परन्तु हे विश्वनाथ नृप ! तुमको समाचार बताया है जिससे पूरी तजवीज कर लेना ।

शीलकेतु—पाद्य, पाद्य, अर्घ, अर्घ।
रेणुकेय—जगयोनिज! गुरु धनुष कौन तोरयो है?
जगयोनिज—हितकारी।
रे०—(आत्मगतं) सर्वभूत हितकारी तो नारायण हैं और हर-धनु भंग करनहार दूजो कौन होइगो।
(प्रगट रूप से)
पूरुव हों इतिहासन में सुन्यो कोपि हरी मृग नारी संघारी।
फेरि गुरु गरदाविकै नील कियौ न मिटै वह नीलता भारी॥
यद्यपि दाग भयो हियरे रिसि सांत करी विती बात विचारी।
तोरि पिनाक नवीन करो हरिहौ सब गर्व जो शिष्य पुरारी॥
रन पच्छि पती सब पच्छन लच्छन बान सपच्छन तें तोरिहौं।
बहु अस्त्रन शस्त्रन सागर में परपच्छिन तच्छन हीं बोरिहौं।
वर विद्या महेश जो मोंहि दई दरशाय मकुंद मदै मोरिहौं।
गहि चक्र को वक्र कै काटिकौ मोद की टूक पिनाक के होंजोरिहौं॥
(तिर्यग दृष्टि से)
यह काको दल भारी है?
सुवनहित—यहि पालक हितकारी है।
रेणु०—कहु किन वेगि पुरारी है?
सु० हि०—जिन घातिनि सर जारी है।
रेणु०—तिय मारि पराक्रम कौन कियो?
सु० हि०—शर एक तनै तेहि फेंकि दियो।
रेणु०—इतने परभाव सुनाम लियो?
सु० हि०—पग छ्वै जेहि पाहन नारि भयो।
रेणु०—तुम और की और बनावत हो
शिशु की कृत भापि भोरावत हौ।
सु० हि०—तिनकासु पिनाकहु तोरि दिये।
मुनि हो परभाव मै शंक किये।
रेणु०—अरे! प्रभाव भनि भटाई कहा करै है; वह हितकारी कौन है? सो बताउ।
सु० हि०—ये दिगजान महाराज के चारि पुत्र हैं, तिन में अग्रज है।
रेणु०—(विस्मित, आत्मगत) चंडहू के प्रचंड दोरदंड को दंड करखत श्रम पावत रहे, सो बाल बाहु दंडन तें टूट्यो। कालगति जानी नहीं

कहा वह धनुष तोरनहार हितकारी है ?

[चारों भाई रथ से उतरते हैं]

(स्वयं)

जो पै होतो काम नाम सुनत महेश जू को,
धनु को प्रनाम करि दूरि ही तें भाजतो।
होतो जो सिंगार तो अकार ताको रस ही है,
कैसे कै प्रतंचा पानि गहि तामें साजतो।
होतो हरि, होते चारि बाहु धारे शंख आदि,
वीर नर देवन में ऐसो कौन भ्राजतो ?
भारी छवि धारी हठि मोरो मन हारो यह,
को है हितकारी रूप रोम रोम राजतो ॥

डहडहजगकारी—(अंजलि बध्वा) अग्रज ! मुनि हैं, कै क्षत्री हैं ? निश्चय नहीं होइ।

हित०—दशदिग दुरदरदरद करन-करन घट अग्रजमद हरन हरन-हार हजार करत नर्वदा धार-धार कुठार सों, नृप वीरन रत मुनि हैं।

चारों भाई—पायँ परियतु हैं, पायँ परियतु हैं।

रैणु०—(वाम करेण शिपं दत्वा) अरे ! मोहि जानै न ?

हितकारी—तुम्हैं कौ जानै न।

रैणु०—फूटे हिये जानै न ?

हित०—कहा आप जानै न।

रैणु०—तोरि पिनाक, वकै बहु वाक, चहे अब आसुहिं नाक सिधारो।
हित०—वाल सुभायन खेलन कों छुयो टूट्यो वनाये वनै धों विचारो।
रैणु०—सौ वनिहै न वनै यह वात दै पानि दोऊ ग्रह पंथ सिधारो।
हित०—हाजिर हैं मुनि हाथ हजूर मे स्वामी सों है कहा दास के चारो ॥

रैणु०—अरे ! कहा दया करावै है ? सर्व छत्रानी गर्व अर्भ वसा वासित या कुठार धार है।

[इति श्रुत्वा दिग्गजानः भूमौ पतति]

हित०—(मूर्छित पितरमवलोक्य ईषदरुणित नेत्रप्रांतः) आपसे मुनिन के वदन ऐसे वचन नहीं खुलै हैं।

रैणु०— भर छत्रिय छिति छत्र पति धनुधारी वरिवंड।
तिनके रुण्डन मुंड सों पूरि कियो नव खण्ड ॥
पूरि कियो नव खण्ड वपुष यक यक कुठार सों।
नव विघन दिय तोषि येक को रुधिर धार सों।

जग जोनिज हित भुवन भीखि माँगन पटु लै पट।
अस मुनि मोहि जानि जानु बाल मैं मुनि हौं उद्भट ॥

डहडह जगकारी—(गुरु निंदा श्रुत्वा सक्रोध)

सम्हारि बैन भाषिये। मुनीश है न माषिये ॥
गुरु न निंदनौ सुने। क्षमा करी दुजै गुनै ॥

रैणु०—(सक्रोधं)

कुठारघात देखि कै। कराल काल लेखि कै।
सपक्ष मान यक्ष सो। अकक्ष जक्ष रक्ष कौ ?
वार यकीस निछत्र क्षिति, कीन्ही धरैं कुठार।
दुजताइहितें मानिवे लायक मै हौं बार ॥

डीलधराधर—(सक्रोधं)

यकइस वार निछत्रि क्षिति जब कीन्हो मुनिराजु।
हितकारी सम क्षत्रि नहि, रह्यौ जानि हौ आजु ॥

रैणु०—(सोत्साह) भली कही, भली कही।

हितकारि त्रिभुवन नाह। गुनि भयो रन उत्साह।
पुनि बाल कोमल जानि। मन भई बात गलानि ॥
तै बल जु बरनन कीन। रन चैन भयो नवीन ॥

(हितकारी से)

हितकारि ! लै धनु हाथ। दरसाउ सो बल गाथ।

डिभीदर—(मंत्रिणं प्रति)

भाषत है करि क्रोध महा अपराध कहा धनुही यक तोरि कै।
ब्राह्मण हत्यै हतौ नृप हैहय मारि के गर्व भरयो हिय भोरि कै।
अग्रज तीनों चलैं घर कों गुर औ महराजऊ सैन वटोरि कै।
आवत हों हूँ, चलोइ अहो, अबहीं मुनि को मद-माट सो फोरिकै।

रैणु०—(सक्रोधं कुठार प्रति)

सुठि कठिन चाबि गनेस दंत। तोहि भयो हुतो रे श्रम अनंत।
भै नाहि त्रिपति अति क्षुधित होउ सिसुगल श्रोनित अब घीउ पीउ ॥

[सक्रोधं त्रयो भ्रातरः शीघ्रं धनुर्हस्ते कुर्वन्ति]

हितकारी—सुनिये सब भाई, है न बड़ाई, क्रुद्ध विप्र सो युद्ध किये।
जो गाइ भरकही नाहिं कोउ कही ताहि मारिबो खड्ग लिये।
मुनि कहँ रिझाइबो जीति पाइबो इहै नीति श्रुति माहिं कही।
अब शीस नवावो क्षमा करावो अस्तुति करि करि पॉय गही ॥

(भ्रातृभिः सह प्रणम्य)

प्रभु पालक ये बालक क्षमा करो।
भूलेहुँ हियरे रोष न कबहुँ धरो।
करि रन जबहि जीत लियो।
गौरी सहित महेशहु कृपहि कियो।

रैणु०—(सस्मितं) निज कुल कुलिदल हितकारी हितकारी बात तिहारी हारी मन है तदपि बालक क्षुद्र क्षुद्र वचन वचन लायक बोलत नहीं है। गुरु अपकार कारमुक भंग भंग अंग बिनु कीन्हें कैसो सहो जाय?

हित०—हौ सेवक खरो खरोई हौं, जेहि रिस जाय सजाय सो करि लीजै।

रैणु०—मम भय क्षत्रिय ते भो ब्राह्मण तोहि पढायो।
भूलि शोक हरन न सेनाहि तो सों बनि आयो।
विनय करत है कहा धनुष धरि मोहि रिझावै।
कै आसुहिं आवत हूँ तात सम स्वांग लै आवै॥

हित०—(गुरु पित्रोर्निंदां श्रुत्वा सक्रोधं)
गुरु निंदत हौ तुम बार बार।
दुज गुन डरियतु हम नहि कुठार।
सब शासन करिबे कहँ तयार।
सो करहु कहिय जो करि विचार॥

रैणु०—(सक्रोधं)
कोदंड भौर माह बोरि देहुँ भूमि इन्द्र को।
कुठार वीचि मो बहाय सैन वृन्दा वृन्द को।
कुमार चारि जारि देहुँ क्रोध वाडवाग्नि मै।
जो लेहुँ शंभु बैर यों तो सोंच यामदग्नि मैं॥
करि क्षत्रियन निरमूल। जग राखि जन अनकूल।
अब क्रोध हेत मिटाय। तप सुचित करिहौं जाय॥

हित०—जे वचन पूरुब कहे तिन तें गुन्यो गर्वहि अति है।
यह बात मुनिवर भली भारती करन हम कहँ सति है।

रैणु०—रे बलि बढ़ि बढ़ि कहा बोलत सुनि पुरुष गन गति नहीं।
धरु बानधनु रन गुने जो बलवान क्षत्रिय कुल महीं॥
रनै छोनि वंदी अनी इन्ध्र जारों।
बढ़ै कोप ज्वाला नृपै होमि डारौं।
कुठारै श्रुवा वा लता पुष्प धारौं।
दोऊ विप्र को सेवकै मूड़ि डारौं॥

हित०— अब लौ विप्र मानि रिस रोकौं
पुनि पुनि गुरु निंदनै ररै।

डिभीदर दे दे धनु मेरो
देखहुँ मुनि धौं कहा करै ॥

रैणु०— वह धनु धरितै युद्ध न लायक
यह बर हरि धनु हाथ धरै ।
औसर कर करि जोरि शरासन
औसर वहिरन को निवरै ॥

[रैणुकेय हस्ततो धनुराकृष्य आरोप्य च हितकारी टंकरयति]

भुवनहित—(जगद्योनिजं प्रति)

डोली धरा वार बार दिग्गज चिकार कीन्हीं
हलिगो हजार शीस कच्छ अकुलान्यो है ।
दैत्य विकरार भये मयहि अकार भये
पारावार वारि वेल छोड़ि छहरान्यो है ।
जै जै शब्द देव दरसहित पुकार करै
प्रलय संसार होत मन अनुमान्यो है ।
देखौ यमदग्नि बार करतें कुठार गिरयौ
सरिस हजार रुद्र राजवार जान्यो है ॥

हित०—सर जरयो यहि कोदण्ड । किन लेहु परस प्रचंड ।
तब निज राखेहु आधु । कत कंपत न्हात सो माधु ॥
अब रन सो मंडिय भ्रष्णु । मम गुरुनि करिये शिष्य ।
जेहि जोर कियो निछत्र । प्रगटहु सो कर करि अत्र ॥

रैणु०—(सभय)

जै पुरुष परेसा जासु निदेसा रवि ससि उड़गन पवन चलै ।
सबकै उपकारी जै हितकारी परम पुरुप जेहि जस अमलै ।
तुमहीं तें चेतन सबहीं के तन हों केहि बल तें युद्ध करौं ।
अपराध महाना भो भगवाना छमहु छमहु प्रभु पायँ परौं ॥

हितकारी— यह अमोघ सर मोर हतहुँ कहा अब भाखिये ।
रैणु०— देखि दया दृग कोर, मोरि स्वर्ग गति मारिये ॥

हों तपकरन जात हौ, यह रूप तिहारौ हमारे हिय में बन्यो रहै ।

[प्रणम्य निष्क्रान्तः]

[ततः जगद्योनिजः भूपमुत्थाप्य वृत्तान्तं श्रावयति]

भुवनहित—आपसे जाके गुरु हैं ताकी सकल भय नेवारत हो, यामें कहा आश्चर्य है । अब आसु अपराजिता कौ सुतर सवार जोड़ी भेजिए औ बरात चलाइये ।

[सर्वे निक्रान्ताः]

[भृत्यों सहित मंत्री का प्रवेश]

मंत्री—गलिन गुलाब सिचावो, महल कल कलसन नवल पताक चढ़ावो;
सकलस, सगान, सवाद्य कन्यन आगे चलावो; वरात निकट आई।

[नेपथ्ये कोलाहल]

सहित वरात भूप इत आवैं।
खैर भैर युत शहर लसत अति रहसि विहँसि नर धावैं।
चलो चलो लोचन फल लीजै अव आनन्द मिति नाहीं।
ललकत रही कुँवर लाखिवे कों, लखव वधुन सँग मॉहीं।
उतरहि चढ़हि अटन उत्कंठित मातन सुख किमि कहिये।
विश्वनाथ उरपर वरषन हित लाजा मोतिन गहिये॥

[एकतः नीराजनं गृहीत्वा सपरिवारा देव्यः प्रविशंति
अन्यतः सवधूकाः शिविकारूढाः कुमाराश्च]

सखी०—(सखी से)
परछत मैयन सुख अधिकाई।
आनन्द जल उमगत अंवक युग भूलि भूलि विधि जाई॥
सुत सुत वधुन तकहि जन चाहहि दृग मग हियहि समाई।
विश्वनाथ मुख चूमि तोरि तृण पुनि पुनि लेहि वलाई॥

पुरोहित—सुत सुतवधू , देव दरशन कराय सोवावो।

[निक्रान्ताः सर्वे]

इति श्रीमन्महराज वांधवेश श्री महाराज विश्वनाथ सिंह देवजू कृत आनन्द रघुनन्दन नाम नाटके प्रथमोऽङ्कः॥

———

नहुष नाटक

प्रस्तावना

नागर नट पट-पीत-धर जिमि घन विज्जु विलास
भव आतप को भय हरत, होत सुखी सब दास।

(मंगलाचरणान्तर नान्दी)

मेचक बरन वर जीवन निवास घर
वकुलनि की लसति सुन्दर परम दाम।
सहित परभंजन की गति धरै अम्बर
विराजै प्रगटावै तिय तन काम।
हिय हरखित महा सारंग धनुप धरै
बरसत सर परपूरै जन अभिराम।
गिरिधरदास देखि नीलकंठ नृत्य करैं,
ऐसो बसो आय मेरे मन कोऊ घनस्याम॥

(अपि च)

नित गावत सेस महेस सुरेस से पावत वांछित भृत्य औ भृत्या।
श्रुति कीरति विश्रुत जासु महा जग पातक वृन्दनि पातक कृत्या।
भव तारन को गिरिधारन जा मधि आपुन सो अधिकी धरी सत्या।
वर आनँदधाम मुदाय गुनाकर स्याम को नाम हतै सब हत्या॥

(नान्द्यन्ते सूत्रधार)

सूत्रधार—सब कोऊ मौन ह्वै हमारी बात सुनौ। विविध विबुध वृन्दारक वृन्द-वंदित वृन्दावनवल्लभ व्रजवनिता वनजवनी-विभाकर वंसीधर विधु-वदन-चकोर चारु चतुर चूड़ामणि चर्चित चरण, परमहंस प्रसंसित मायावाद विध्वंसकर श्रीमत वल्लभाचार्य वंश-अवतंस श्री गिरिधर जी महाराजाधिराज ने मोकों आज्ञा दीनी है। सो मैं गिरिधरदास कृत नहुप नाटक आरम्भ करौ हौं।

(तब आगे बढ़ि हाथ जोरि कै)

इहाँ सब सुभ सभ्य सभाध्यच्छ अपने अपने पच्छन के रच्छन में परम विच्छन दच्छ हैं। इनके समच्छ इह ढिठाई है तथापि कृपा करि सब सुनौ।

... पितु भ्रात विग्य गुनगन अधिकाई।
... बोल सुनत सिसु के मन ...

जदपि प्रकासक आप सूर जग और न दूजा।
तदपि भक्त जो दीप देत तेहि मानत पूजा॥
तिमि जदपि सबै पंडित सुघर गुन विन कोऊ न लेखिए।
यह तदपि हमारी नाट्य विधि चित देके अब देखिए॥

(पारिपार्श्वक)

भाव—अहो तुम्हारी बात सों मेरे गात में आनन्द नहीं समात है। तासों कौन श्री गिरिधर जी महाराज हैं सो बतावो।

सूत्र—(सानन्द) अहो तुमने नहीं जाने। (तब सामुहे देखिकै) वह सिंहासन पर सूरज समान तेजमान, चन्द्र समान सीतल सुभाव, मंगल समान मंगल नाम, बुध समान बुध, गुरु समान गुरु, कवि समान कवि, सप्तम ग्रह सों रहित विराजै हैं।

श्रति उद्धारक मीन कमठ निरजर कुल जयकर।
महि उद्धरन वराह भक्त भय हर नर नाहर।
असुर मोह कर बटुक दुष्ट पद हरन परसुधर।
धरम धीर रघुवीर सीर धर व्रज जन प्रिय वर॥
बुध सदा अहिंसा रति धरन, कलकी कलि कर मल हरन।
गिरिधर सम दस वपु धर प्रगट, गिरिधर लाल कृपा करन॥

पारिपार्श्वक—तुमने जैसे कृपा करि श्री महाराजाधिराज को दरसन करायौ तैसे कृपा करि नाटकहू दिखायौ चाहिए।

थावर जङ्गम सृष्टि रची विधि न्यारी करी सवहीन की रीतै।
तामें सिरोमनि मानव की तन देवहु गावत जा गुन गीतै।
विद्या बनी सिगरी इहि हेत विचारि कै जा सुखसार प्रतीतै।
सोई घरी अहै कंचन की धन जो रस की चरचा मधि बीतै॥

सूत्र०—घर सों सुघर घरनी कों बुलाइ कै मैं यामें प्रवृत्त होउ हौं।

(यह कहि नेपथ्य की ओर देखि कै कह्यो)

अरी ! यहाँ आउ।

(तब प्रविसि कै नटी)

नटी—आर्य पुत्र ! कहा आज्ञा ?

सूत्र—जा विधि राजा नहुष नैं कियो स्वर्ग कों राज।
सो नाटक चाहत करन हुकुम कियो महाराज॥

नटी—जो आज्ञा।

सूत्र०—सो तू सावधान होय कै कारज कौं साधि।

(इतने में नेपथ्य में)

अरे शैलूषाधम !

जथा श्रुति मे बरन्यो विस्तार तथा हयमेध करै सत बार।
हजारन पुन्य के पाप दहै गिरिधारन पूजै अनेक प्रकार।
मिलै तब आसन इन्द्र को स्वर्ग में आइ करे सुरवृन्द जुहार।
कहै तेहि बैठिहै मानव छुद्र अरे नट पापी गँवार लवार ॥

सूत्र०—(करन दैकै)

गौर सरीर अबीर से लोचन मस्तक मे कस्मीर बनाए।
सीस किरीट नफीस लसै बिबि कुंडल कानन रत्न जराए।
श्री गिरिधारन के बल सों वधि वृत्तासुरै सब दैत नसाए।
यो बतिया सुनि कोप भरो सुरनायक आवत वज्र उठाए ॥

यह हम सों सब विधि बड़ो निरजर कुल को छत्र।
अब इत रहनो उचित नहिं तासों चलु अन्यत्र ॥

[यह कहि दोऊ निकरे

इति प्रस्तावना

प्रथम अंक

स्थान—राजभवन

(तब प्रविस्यो इन्द्र)

इन्द्र—अरे शैलूषाधम ! (यह कहत फिरत लाग्यो)

(इतने मे नेपथ्य मे)

देखहु तौ विपरीतता काल की जो करतार हूँ अग्यता ठानै।
ऊँचो सिहासन देइ अधी कहँ धर्म धरै तेहि दारिद सानै।
माया बली गिरिधारन की जिहि नैन सहस्रन सों पहिचानै।
काटि कै ब्राह्मन मस्तक कौ यह आपुने कों धरमात्मा मानै ॥

इन्द्र—(सभय करन दैकै)

भलो हू करत आय विपति परत सीस
यह विपरीत रीति विधि की कुचाली सी।
लोक सोक हरयौ हरि असुर को आसु तऊ
कढ़ी ब्रह्महत्या दीह साँस लेत व्याली सी।
मेरे जान मेरी जान लेन पाछे आवति है
मूल लिए कोप भरी प्रलय कपाली सी।
कुमति कलंकिनि कुचालिनि कुचैल क्रूर,
काल सी कराल काल रात की सी काली सी ॥

(यह कहि चल्यो) (तब इन्द्र आत्मगत)

इन्द्र—एक बार मारयो गुरुहि तव विधि मारयो ताप ।
अब दूजी हत्या लगी हा ! किमि जैहे पाप ॥

[यह कहि निकस्यो

[प्रविसी ब्रह्महत्या]

ब्रह्महत्या—अरे निज मुख निज प्रसंसक नृसंस, ब्राह्मन-बध करन वारे ! कहाँ भाग्यो जाय है ?

[यह कहि खलित नृत्य कियो, फेरि निकरी

[प्रविसे जयंत, कार्तिकेय]

जयन्त—मैं जननी घर बैठ्यो हुतो तित दूत ने आय। हवाल उचारयो ।
नर्मदा तीर भयो अति संगर काल ने दानव देव सँहारयो ।
श्री गिरिधारन के परताप सों बासव वृत्र को प्रान निकारयो ।
जानत ताकहँ आप अहो सो कहौ किमि तात महा रिपु मारयो ॥

कार्तिकेय—(साचरज)
सुरपति सुत यह वचन सुनि अचरज मोहि बिसाल ।
कहा न तुम रन में रहे जो पूछत हौ हाल ॥

जयंत—जा दिन सो अरि के भय भागि कै त्याग कियो घर मेरे पिता ने ।
ता दिन तें जननी ने तज्यो सब धारे हिये गिरिधारन ध्याने ।
सेवन तासु लियो हम प्रीति सों सामा प्रसून फलादिक आने ।
संगर में नहि संग रहे कछु तासों न ताके हवालहिं जाने ॥

कार्तिकेय—जब वृत्तासुर के भय सों सूर सब भागे तब छीरनिधि के निकट जायकै यह कहन लागे ।
जय रमेस परमेस सेस सोई सुरेस हरि ।
जय अनंत भगवंत संत वन्दित दानव अरि ।
जय दयाल गोपाल प्रतिपाल गुनाकर ।
जय अनन्य गति धन्य धरमधुर पञ्चजन्य धर ।
वृन्दारक वृन्द अनन्द कर कृपाकन्द भव फन्द हर ।
हरबंध मनोहर रूप धर जै मुकुन्द दुख दुन्दु दर ॥

जयन्त—(सानंद) तब कहा भयो ?

कार्तिकेय—जब देवतान ने ऐसे बीनती करी तब आकास बानी भई ।
सब सुर जाहु दधीच पै, माँगहु तिन को गात ।
तासु अस्थि को कुलिस रचि, करहु वृत्र को घात ॥

जयन्त—(सानंद) तब कहा भयो ?

कार्तिकेय—यह सुनि प्रनाम करि सब देवता दधीच पै जाय हाथ जोरि कहन लागे—

जय मुनि मंडन धरमधर पर उपकारक आर्ज।
दीनबन्धु करुना सदन साधहु सुर को कार्ज।

जय०—तब ! तब !

कार्ति०—ऐसे सब के वचन सुनि दधीच बोले—

जौ मोसों जाचत सुर सहित सनेह।
तो मन इच्छित दैहौं मय व्रत एह॥

जयन्त—(सानंद) तब, तब !

कार्ति०—ऐसे मुनि के वचन सुनि प्रसन्न होय देवता बोले—

वृत्रासुर भयभीत हम माँगत तुमरो गात।
वज्ज विरचि कै अस्थि को करिहै ताको घात।
जदपि देह वल्लभ सबहि चहत यासु जगश्रेय।
तदपि धरम धुर धरन कों नहिं कछु अहै अदेय॥

जयंत—तब, तब,

कार्त्ति०—ऐसे देवतन के वचन सुनि खिन्न मन होय कै बोले—

देखहु तौ जग जब की रीतिहि आपुने ही हित सों हित ठानैं।
देवहु भूलि रहै इहि मे तब और की बात कहा कहि छानैं।
का करतव्य ? निसेध कहा ? गिरिधारन कोऊ नहीं पहिचानैं।
स्वारथ में मन दौरि रह्यौ परमारथ तासों अकारथ जानैं॥

निज अरि कारन हेतु तुम अस्थि चहत मम देव।
कैसो दुख मोहि मरन को सो नहि जानत भेव॥

जयन्त—(चिन्ता सहित) तब, तब,

कार्त्ति०—तब देवता सब उदास होय कै यह बोले :

जिमि तव गात विनास दुख गुनत न हम निज स्वार्थ।
तिमि न तुमहुँ मम दुख गुनत समझहु विप्र! जथार्थ॥

जयन्त—तब, तब,

कार्त्ति०—ऐसे देवतान के वचन सुनि मुनि मन में विचारन लागे—

विधि देह रची सब की गढ़ि भूतन हैं जहँ जन्म विनास प्रकार।
जगती महँ जाहि जन्यो जननी वह जैहैं हन्यौ जम सो व्यवहार।
गिरिधारन भक्ति करै सम ह्वै यह संसृति रोग को है उपचार।
श्रुति चार विचार कियो निरधार अहै उपकारहि जीवन सार॥

(ऐसे सोचि कै प्रसन्न ह्वै बोलत भए)

सब देहीं को देह यह जदपि परम प्रिय एव।
तदपि मुदित चित स्याम हित तुम कहँ देहै देव॥

इमि कहि मुनि मति पीन, हरहिं ध्याइ मूँदे दृगन ।
भए ब्रह्म में लीन, गात पात पुहुमी भयो ॥

जयन्त—(सानन्द) तब, तब,

कात्ति०— तब लै आए अस्थि सुर गावत मुनि गुन गाथ ।
विसुकरमा वज्रहि विरचि दियो देवपति हाथ ॥

जयन्त—(सानन्द)

सोई धर्मनिधान सुजान महा गिरिधारन मे रति जासु भई ।
पर को उपकार रुचे मन मे परमारथ की वर राह लई ।
पितु मातु कृतारथ ताको सदा जिन के सुतने जस बेल वई ।
यह धन्य दधीच मुनीस अहैं जिन अन्य के कारन देह दई ॥

कात्ति०—सत्य, सत्य ।

जयन्त—तब, तब !

कात्ति०—ध्याय के पाय रमावर के उर पूजि घनी विधि विप्र समाजा ।
आसिप लै गुरुदेव की प्रेम सों मंगलमय बजवाय के वाजा ।
गिरिधारन रत्न दै जाचक मैं सुभ सोधि मुहूरत आनँद साजा ।
जंग के काज उमंग भरो सित रंग मतंग चल्यौ सुरराजा ॥

जय०—(सानन्द) तब, तब,

कात्ति०— चलत देखि सुरपतिहि चली सैना सुर भारी ।
कोटिन मत्त मतंग तुरग स्यन्दन पद चारी ।
कहि न जाय अति भीर तीर तरवार चमक्कैं ।
फरफराहि वहु केतु वीर धरु धरु यह बक्कै ।
जम, जलपति, धनद, दिनेस, ससि, अस्विनिसुत वसु रुद्रगन ।
सिखि साध्य जच्छ किन्नर मरुत चले सबहि बढ़ि निकरन ॥

जयन्त०—(सानन्द) तब, तब

कात्ति०— आवत सुनि सुर सैन को वृत्र बली असुरेस ।
सजग होहु सब वीर मन ऐसो दियो निदेस ॥

प्रमुचि नमुचि सतनयन संकुसिर द्विसिर अनर्वा ।
सकुनी हेति प्रहेति विप्र चित्ती वृषपर्वा ।
अंबर उत्कल कपिल वाजिमुख इल्वल संवर ।
असिलोमा अतिनाभ रिसभ बलवल वल वलधर ।
इन आदि अनेकन असुर वर निज निज सैना सजि चले ।
तिनके मधि वृत्रासुर लसै जाहि देखि सुर खलभले ॥

जयन्त—(चिता सहित) तब, तब,

कार्त्ति०—तब दुहुँ दिसि के सुभट बढ़ि करत भए संग्राम।
तुमुल शब्द सुनियत श्रवन जासों लय छन छाम ॥

तबै घोर संघट्ट मच्यौ सुर असुर भट्ट सों।
पिरे समर चौहट्ट सबै धरु मरु रट्ट सों ॥
सूल सक्ति असि पट्ट गदा सर परिघ घट्ट सों।
श्रोनित सरित प्रगट्ट भई दुहुँ दिसिन फट्ट सों ॥
बहु कवच कुंड कुंडल मुकुट सिर पद कटि कटि गिरे।
असुर बाजि बाजन बली युद्ध थली सोहहि थरे ॥

जयन्त—(सानन्द) तब, तब,

कार्त्ति०—तब जम धनद प्रहार सों विमुख भई पर सैन।
कोपि सूल गहि भिरत भो वृत्रासुर सुर जैन ॥

जयन्त—(चिन्ता सहित) तब, तब,

कार्त्ति०—इमि निज सैन विनास लखि सहसनैन बल ऐन।
वृत्रासुरहि प्रचारि कै भिरत भए अरि जैन।
सक्र चाप टंकारि कै हने अनेकन पत्र।
तिनहिं सहत दौरत भयौ महाकाल सम वृत्र ॥

तब सुरपति गहि गदा असुर दिसि भए चलावत।
ताहि पकरि कर वाम तजी लखि कै ऐरावत।
तासों है कै विकल भयो गज भूतल आवत।
चेत खोय बल गोय तुरत गिरि परयो महावत ॥
सुरनाथ महा संभ्रम सहित उतरि समर ठाढ़े भए।
सो लखि अमरन हा! हा! कियो उर अतिहि चिन्ता भए ॥

जयन्त—(सकम्प) तब

कार्त्ति०—तब मातलि लायो सुरथ सुन्दर अर्व लगाय।
तापै बैठे सुपर्वपति भिरे वृत्र सों जाय ॥

जयन्त—तब, तब

कार्त्ति०—वृत्रासुर सह कोप सूल कर धारिकै।
धायो सुरपति ओर घोर ललकारिकै।
सुनासीर रनधीर वीर तिहि डाटिकै।
कुलिस त्यागि सह सूल दियौ भुज काटिकै ॥

जयन्त०—(सानन्द) तब, तब,

कार्त्ति०—तब दूजे कर परिघि गहि हन्यो वासवहि भूमि।
ता प्रहार सौं कुलिस गिरयौ रनभूमि ॥

लाज सहित सुरराज वज्र उठावन नहि चहे।
तबहि दनुज सिरताज विहँसि वचन बोलत भयो ॥
देह करम आधीन चलै ताके अनुसारहि।
तासों बरबस जीव लहै सुख दुख संसारहि ॥
और चाह अनुसरे काज तहँ औरहि जोवे।
कोटि जतन कोउ करौ जौन होनी सो होवे ॥
ह्वै करत जहाँ संगर तहाँ इक जीतत इक परत ध्रुव।
यह गुनि बुध इहि चिन्तत नहीं अति असार व्यवहार भुव ॥
जेते जग भोग जामै भूलि रहे लोग ते
करहि सब रोग कहि सोग कै बताइए।
करम को गेह पंच भूत कई देह
नासमान गुनि एह नेह काहे कों वढ़ाइए।
गिरिधरदास कोऊ काहू को न संगी स्वास
करि विसवास वृथा त्रास उपजाइए।
दारा सुत विरत अहै सबहि अनित तासों
गुनि निज हित चित स्याम पद लाइए ॥
तातें तुम भय लाज तजि वज्र उठावहु हाथ।
जो भवितव सो होय है समर करहु मम साथ ॥

जयन्त०—(साचरज) वाह, वाह,

कार्त्ति०—वृत्रासुर के वचन सुनि चकित होय सुर राय।
सत्रुहि बहुत प्रसंसि कै कहत महत हरखाय ॥
लहिकै यह तामस दानव को तन जामैं विवेक न नेकु रहे।
मुनि सी वर बात बखानत हौ गुनि कै जन जो भव ताप दहै।
गिरिधारन भक्ति प्रभाव महा कहिए किमि जा जस वेद कहै।
हरिभक्त अनन्य मै गन्य सदा तुमरे सम धन्य न अन्य अहै ॥

जयन्त—(सानन्द) तब, तब,

कार्त्ति०— इमि कहि कुलिस उठाइ कै प्रमुदित चित सुरनाथ।
परिघ सहित असुरेस को काट्यो दूजो हाथ ॥
तब निज वदन पसारि कै वृत्रासुर अरिकाल।
वाहन सहित सुरेस को लील गयो विकराल ॥
लखि सहसा सहसाच्छ कहँ निगलत समर मँझार।
देवन हाहाकार किय असुरन जय जयकार ॥
असुर उदर में सुरथ सहित चलि गए पुरन्दर।
जैसे कोऊ जाय स्याम गिरि कन्दर अन्दर।

कृष्ण कवच परभाव भयो असु को अभाव नहिं।
काटि कुलिस सों कच्छि कढ़े तुरतहि ताथल पहिं।
जिमि फारि महातम निकट कों निकरत नभ में नखतपति।
तिमि कढ़त भए अरि अंग सों सुरपति वर भट विमल मति॥

जयन्त—(सानन्द)

कार्त्ति०— तब निज कर महँ कुलिस गहि रोस सहित सुरनाथ।
कई बरस में काटि कै महि पारयौ अरि माथ॥
वृत्रासुर घर जबै धरती पै आय गिरयौ
थर थर हाले तबै तीन लोक नव खण्ड।
मेरे जान स्यामने अपनी सत्ता धरी लाय
तासों बची सृष्टि प्रलय काल ना भयो खण्ड।
गिरिधरदास ना तौ कौन जोन कहा होतौ
पाय कै प्रहार महाकाल देह सों अखण्ड।
छूटि जातो गज-प्रान टूटि जातो कोल रदु
कूटि जातो सेस फन, फूटि जातो ब्रह्मण्ड॥
वृत्रासुर की ज्योति कढ़ि भई व्योम मे लीन।
लखि व्याकुल भागे असुर सुरन नगारे दीन॥

जयन्त—(सानन्द) पाप कट्यो, पाप कट्यो।
अब मोहि उपजी चित्त मे पितु पद दरसन चाह।
ते कित देहु बताय मोहि, निर्जर सैना नाह॥

कार्त्ति०— वृत्रासुर के नास लौ हम देखे अमरेस।
अब तिनकों जानत नहीं अहैं कौन से देस॥

[इतने मे आयो मातलि; दोउन के पाय परि ठाढ़ो भयो]

जयन्त— कह मातलि अरि मारि कै कित राजत सुरराज।
मै तिनको दरसन चहत भयो सिद्ध सब काज॥

मातलि— वृत्रासुर को मारि कै द्विज भय हत्या पागि।
हम नहिं जानत कौन थल गए देवपति भागि॥

जयन्त— शत्रु परयो हत्या लगी मनु दोहरानो रोग।
अब चलि तिनकों खोजि कै हरिए कोउ विधि सोग।

कार्त्तिकेय, मातलि—सत्य, सत्य (इमि कहिकैं सब निकरैं)

इति श्री नहुष नाटके प्रथमोऽङ्कः

इन्दर-सभा नाटक

[आमद राजा इन्दर की बीच सभा में]

(वंदीजन)—सभा में दोस्तो ! इन्दर की आमद आमद[1] है ।
परी-जमालों[2] के अफसर की आमद आमद है ॥
खुशी से चहचहे लाजिम[3] हैं सूरते-बुलबुल ।
अब इस चमन में गुलेतर[4] की आमद आमद है ॥
फ़रारे-हुस्न[5] से आँखों को अब करो रोशन[6] ।
ज़मी पै मेह्न[7]-मुनव्वर की आमद आमद है ॥
दो-जानू[8] बैठो करीने से आके महफिल में ।
परी औ देव के लश्कर की आमद आमद है ॥
जमीं पै आएँगी राजा के साथ अब परियाँ ।
सितारों की महे-अनवर[9] की आमद आगद है ॥
ग़जब का गाना है और नाच है क़यामत[10] का ।
बहारे-फ़ितनए-महशर[11] की आमद आमद है ॥
बयाँ मैं राजा की आमद का क्या करूँ उस्ताद ।
जिगर की जान की दिलबर की आमद आमद है ॥

(इन्दर का प्रवेश)

इन्दर— राजा हूँ मैं कौम का इन्दर मेरा नाम ।
बिन परियों के दीद[12] के नहीं मुझे आराम ॥
सुन ले मेरे देव अब दिल को नहीं क़रार[13] ।
जल्दी मेरे वास्ते सभा करो तैयार ॥
तख्त बिछाओ जगमगा जल्दी से इस आन ।
मुझ को शब[14] भर बैठना महफिल के दरमियान ॥
मेरा सिगल-दीप में मुलकों मुलकों राज ।
जी मेरा है चाहता जलसा देखूँ आज ॥
लाओ परियो को अभी जल्दी जाकर वाँ ।
बारी बारी आनकर मुजरा करें यहाँ ॥

---

१. आना २. परियो के ३. आवश्यक ४. फूल ५. सौंदर्य ६. प्रज्वलित ७. चन्द्रमा ८. घुटने टेक कर ९. पृथ्वी पर १०. प्रलय ११. प्रलय मचाने वाली बहार १२. दर्शन १३. संतोष १४. रात

(बंदीजन)—महफ़िले राजा में पुखराज परी आती है।
सारे माशूक़ों की सिरताज[1] परी आती है॥
जिसका साया न कभी ख़्वाब में देखा होगा।
आदमीजादों[2] में वह आज परी आती है।
दौलते-हुस्न[3] से हो जायगा आलम[4] मामूर[5]।
करने इस बज़्म[6] में अब राज परी आती है॥
रंग हो ज़र्द[7] हसीनो का न क्यों कर उस्ताद।
गुल है महफ़िल में कि पुखराज परी आती है॥

(पुखराज परी का प्रवेश)

पुखराज—गाती हूँ मै और नाच सदा काम है मेरा।
आफ़ाक़[8] में पुखराज परी नाम है मेरा॥
फंदे से मेरे कोई निकलने नहीं पाता।
इस गुलशने-आलम[9] में बिछा दाम है मेरा॥
मै लाख की दो लाख की परवाह नहीं करती।
क़ारूँ का ख़जाना[10] अजी इनआम[11] है मेरा॥
कहते हैं जहाँ में जिसे इंसाँ गुलो-संबुल[12]।
वह रुख़[13] है वह गेसुए-सिपहफ़ाम[14] है मेरा॥
बदमस्त मुझे देख के होती है ख़ुदाई।
मामूर[15] मए-हुस्न[16] से क्या जाम[17] है मेरा॥
करती हूँ दिलो-जान से राजा की परिस्तिश[18]।
कहते हैं जिसे कुफ़्र[19] वह इस्लाम[20] है मेरा॥
अल्लाह ने बख़्शा है मुझे रुतबए-आली[21]।
गरदूँ[22] जिसे कहते हैं वही बाम[23] है मेरा॥
इंसाँ की शरारत से मेरा बस नहीं चलता।
दिल लेके मुकर जाना सदा काम है मेरा॥
उस्ताद को देती हूँ दुआयें दिलो-जाँ से।
यह काम जहाँ मे सहरो-शाम[24] है मेरा॥

---

१ शिरोमणि, २ मनुष्य जाति, ३ सौंदर्य की लक्ष्मी, ४ संसार, ५ पूरित, ६ सभा, ७ पीला, ८ आकाश (आकाश के किनारे), ९ संसार रूपी उद्यान, १० जैसे कुबेर का कोष हिन्दू पुराणो में प्रसिद्ध है उसी प्रकार मुसलिम संस्कृति में कारूँ का ख़जाना है, ११ भेंट, पुरस्कार, १२ गुलाब; पतली शाखाओं वाला एक वृक्ष जिससे बालो की उपमा दी जाती है, १३ कपोल, १४ काले बाल, १५ पूरित, १६ सौदर्य-मदिरा १७ चमक, १८ पूजा, १९ पाप, २० धर्म, २१ उच्च-पद, २२ आकाश, २३ आकाश, २४ प्रातः सायं।

पुखराज— राजा इन्दर देश में रहें इलाही शाद[१] ।
जो मुझ सी नाचीज[२] को किया सभा में याद ॥
किया सभा में याद मुझे महाराजा जी ने आज ।
दौलत माल खजाने की मै कभी नही मोहताज[३] ॥
हीरा पन्ना चाहिए तख्त न मुझको ताज ।
जग में बात उस्ताद की बनी रहे महाराज ॥

ठुमरी

आई हूँ सभा मे छोड़ के घर
काहू की नहीं मोहि आज खबर ।
चेरी हूँ तेरी राजा इन्दर ।
रखना दिन रैन दया की नजर ॥
सोने का विराजे सीस मुकट ।
रूपे के तखत पर बैठे निडर ॥
चारों कोनों पर लाल लुटैं ।
दाता का करम रहै आठ पहर ॥
साया रहे पीर पयंबर[४] का ।
मौला की सदा रहै एक नजर ॥
उस्ताद कहो हर से हरदम ।
दुनियाँ में रहे हजरत अखतर[५] ॥

बसन्त

ऋतु आइ बसंत अजब बहार
खिले जर्द फूल बिरवन की डार ॥
चिटको कुसुम फूलन लागीं सरसों ।
फफकत चलत गेहूँ की बार ॥
हर एक के द्वार माली का छोरा ।
गरवाँ डारत गेंदन के हार ॥
टेसुआ फूले अँबवा बौराने ।
चंपा के रूख कलिन के भार ॥
गड़वा लिए उस्ताद के द्वारे ।
चलो सब सखियाँ कर कर सिंगार ॥

---

१. प्रसन्न और सम्पन्न २. निकृष्ट ३. इच्छुक ४. संदेश वाहक

होली

पा लागों कर जोरी स्याम मों से खेलो न होरी।
पनियाँ भरन को मै निकसी हूँ सास ननद की चोरी ॥
सगरी चुनरी रंग में न भेओ इतनी सुनो अब मोरी ॥स्याम०
छीन झटक मोरे हाथ से गागर जोर से बहियाँ मरोरी।
दिल धड़कत है साँस चढ़त है देह कँपत गोरी गोरी ॥
अबीर गुलाल लिपट गयो मुख पर सारी रंग में बोरी।
सास हजारन गारी देगी बालम जियत न छोरी ॥
फाग खेल के तुम मेरे मोहन का गति कीनी मोरी।
सखियन में उस्ताद के आगे बात होत मोरी थोरी ॥

इन्दर—खूब रिझाया नाच के गा के।
पास मेरे अब बैठ तू आ के।
खुश हुई तुझसे महफ़िल सारी।
अब है नीलम परी की बारी ॥

(बन्दीजन)—सभा में आमदे-नीलमपरी है।
सरापा व नज़ाकत से भरी है ॥
सितारों की झपक जाती हैं आँखें।
वदन पै उसके मलबूसे-जरी[१] हैं ॥
ग़जब गाना है औ उसका चमकाना।
कभी जुहरा कभी वह मुश्तरी है ॥
ख़िज़ालत से न क्यों नीलाम हो सौसन[२]।
कि नाफ़रमाँ को उससे हमसरी है।
न देखा होगा नाच ऐसा किसी ने।
बला है कहर[३] है जादूगरी है ॥
तमाम उसके हैं आज़ा[४] शोलाए-नूर[५]।
शरारत कूट कर उसमें भरी है।
जमीं पर वह परी आती है उस्ताद।
जवाहर से जो रंगत में खरी है ॥

---

१. ज़री का बना हुआ कपड़ा २. एक फूल जो अपनी कोमलता के लिए प्रसिद्ध है ३. प्रलय ४. अंग ५. प्रतिभा अंगारे।

नीलमपरी—हूरों के होश उड़ते हैं उड़ने की शान पर।
नीलम परी है नाम मेरा आसमान पर ॥
अल्लाह के काम से ज़माने में है उरूज[१]।
झुकता है सर फ़लक[२] का मेरी आस्तान[३] पर ॥
इंसॉ भी क्या है अस्ल वह पुतला है ख़ाक का।
जिन[४] खेल जाते है मेरी उल्फ़त[५] में जान पर ॥
नीलम को चूम चाम के आंखों में रखते हैं।
शोहरा[६] है मेरा जौहरियों की दुकान पर ॥
उड़ते नही हैं मेरी नज़ाकत पै किसके होश।
रखते हैं फूल हाथ गुलिस्तॉ में कान पर ॥
करता नही है कौन मुहब्बत का हक़ अदा।
देते हैं जान देव मेरी आन आन पर ॥
मिस्सी की तरह बाग़ में जमता है उसका रंग।
सौसन जो ज़िक्र लाते है मेरा जबान पर ॥
ज़ुहरा मेरे ख़्याल मे धुनती है सर सदा।
मरते हैं तानसेन तराने की तान पर ॥
उस्ताद ने जमी पै बुला कर दिया है नाम।
क्योकर रहे न मेरा दिमाग़ आसमान पर ॥
आई हूँ मै दूर से करके तुमको याद।
मुजरा मेरा देखकर करो मेरा दिल शाद ॥
करो मेरा दिल शाद कि मै दिल खोल के गाऊॅ।
गा के नाच के आज हुनर अपना दिखलाऊँ ॥
हुनर अपना दिखलाकर महफ़िल मे दाद पाऊॅ।
दाद अपनी यहॉ पाकर उस्ताद के घर जाऊॅ ॥

ठुमरी

राजा जी कहो मो सों बतियॉ रे।
दिल तड़पत दिन रतियॉ रे ॥
हमरी ओर से तुम से दिन दिन
धड़कत है मोरी छतियॉ रे ॥
जिया डरपत है तुम्हरे रोंस से।
सौतिन लागत छतियॉ रे ॥

---

१. उत्थान २. आकाश ३. चौखट ४. देव ५. प्रेम ६. प्रसिद्धि।

दास उस्ताद का चाहिए मोंहि का।
लिख पठवहु दो बतियाँ रे।

होली

कान्हा को समझावे न कोई।
मोरी अँगिया रंग मे भिगोई॥
मेरी ब्रज मे पति खोई॥ कान्हा०॥
आज सखी हम घर मे जाय के
प्रीति की जान को रोई॥
अबिर गुलाल छुड़ावन खातिर
मुँह अँसुवन से धोई॥
बॅदन माटी मे मिलोई॥ कान्हा०॥
गरवा लगायो पकड़ि के मोहिका
मुँह पकड्यो जब रोई।
इज्जत लीनी, गारी दीनी
हमहूँ जान को खोई॥
सखी विष खाय के सोई॥ कान्हा०॥
बैठ बैठ ब्रज के लोगन में
कुबरी ने विष बोई।
यह जो खबर उस्ताद ने पाई
घर हम हाथ सो खोई।
निकस कर जोगिन होई।
कान्हा को समझावै कोई॥

इन्दर— दिखा चुकी तू करतब सारे।
पहलू मे अब बैठ हमारे।
किया सभा मे तूने नाम
अब है लाल परी का काम॥